दिगम्बराचार्यश्री सुनीलसागर विरचित

अज्झप्पसारो

(अध्यात्मसार)

- कृति : अज्झप्पसारो
  (अध्यात्मसार)
- रचयिता : आचार्यश्री सुनीलसागरजी महाराज
- प्रसंग : आचार्यश्री सन्मतिसागर के शिष्य मुनि सुनीलसागर का आचार्य पदारोहण, २५ जनवरी २००७, औरंगाबाद
- अनुवादक : आचार्य श्री सुन्दरसागरजी महाराज
- संपादक : प्रो.(डॉ.) उदयचन्द जैन
- संविभागी : उत्तमचंद चांदीवाल परिवार, औरंगाबाद
- प्राप्ति स्थान : १. प्रकाशक व
  २. अमर ग्रंथालय- श्री दि. जैन उदासीन आश्रम
  ५८४, म. गां. मार्ग, इन्दौर (म. प्र.)
- व्यवस्थाराशि : रु. २५.०० [पुनः प्रकाशनार्थ]
- आवृत्ति : प्रथम,२००० प्रतियाँ,
  महावीरजयंती, २००७, वीर नि.सं. २५३३
- प्रकाशक : *जैन संस्कृति शोध संस्थान*
  २२/२, रामगंज, जिन्सी, इन्दौर,
  मो. ९८२६० ९११४७

AJJHAPPSĀRŌ
by
ĀCHĀRYA SUNĪLSĀGAR

आशीर्वाद

यह भारतभूमि पुराकाल से ही साधुसंतों के अवतरण, निष्क्रमण, आचरण एवं साधना से सदा पवित्र होती रही है। वर्तमान काल में भी अनेक भव्यजीव अपनी आत्मा का उद्धार कर रहे हैं। उन्हीं में प.पू. मुनिकुंजर, समाधिसम्राट, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, आदर्श तपस्वी, महामुनि, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध दिगम्बर संत, आचार्यपरमेष्ठी श्री १०८ आदिसागरजी महाराज (अंकलीकर) के पट्टाधीश आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के शिष्य वात्सल्य रत्नारकर आचार्य विमलसागरजी महाराज हुए हैं। इन्होंने स्वात्महित के साथ परहित किया है तथा अपनी तपोपूत आत्मा से भव्य आत्माओं को हितोपदेश दिया है। वह उपदेश ग्रंथरूप में भी लिपीबद्ध है।

आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर ने भाद्रपद शुक्ला ४ वि.सं. १९२३ सन् १८६६ को महाराष्ट्र के अंकलीग्राम में जन्म लिया। मगशिर शुक्ला २ वि. सं. १९७० सन् १८१३ को सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि पर दीक्षा ली। ज्येष्ठ शुक्ला ५ वि. सं. १९७२ सन् १९१५ को जयसिंहपुर में आचार्यपद को ग्रहण किया। फाल्गुन कृष्णा १३ वि.सं. २००१ सन् १९४४ को ऊदगाँव कुंजवन में समाधिमरण किया। उन्होंने अपने दीक्षाकाल में प्रायश्चित्त विधान (प्राकृत) को भाद्रपद शुक्ला ५ वि सं. १९७२ सन् १९१५, जिन धर्मरहस्य (संस्कृत) को मगशिर शुक्ला २ वि.सं. १९९९ सन् १९४२, दिव्यदेशना (कन्नड) को मगशिर शुक्ला ११ वि.सं. १९९९ सन् १९४२, शिवपथ (संस्कृत) को भाद्रपद शुक्ला ४ वि. सं. २००० सन् १५४३, वचनामृत (मराठी) को माघ शुक्ला १४ वि.सं. २००० सन् १९४३, उद्बोधन (कन्नड) को फाल्गुन शुक्ला ११ वि. सं. २००० सन् १९४३, अंतिम दिव्यदेशना (कन्नड) को फाल्गुन कृष्णा १३ वि.सं. २००१ सन् १९४४ में पूर्ण किया।

आचार्यश्री के पट्टाधीश आचार्य महावीरकीर्तिजी ने वैशाख कृष्णा ९ वि. सं. १९६७ सन् १९१० को फिरोजाबाद में जन्म लिया। फाल्गुन कृष्णा ११ वि. सं. २००० सन् १९४३ को ऊदगाँव में दीक्षा ग्रहण की। आश्विन शुक्ला १० वि.सं. २००१ सन् १९४३ को आचार्यपद ग्रहण किया। माघकृष्णा ६ वि.सं. २०२८ सन् १९७२ को महसाना में समाधिमरण किया। आचार्यश्री ने परंपरागत ज्ञान से अपने दीक्षा-काल में प्रायश्चित्त विधान (संस्कृत) को फाल्गुन शुक्ला १३ वि. सं. २००९ सन् १९५२, वचनामृत (अंग्रेजी) वर्ड्स आफ नेक्टर (Words of nector) को मगशिर कृष्णा १० वि.सं. २००० सन् १९४३, धर्मानंद श्रावकाचार (हिंदी) को चैत्र शुक्ला १३ वि. सं. २००० सन् १९४३, प्रबोधाष्टक (संस्कृत,

स्वोपज्ञ टीका सहित) को फाल्गुन शुक्ला ११ वि. सं. २००४ सन् १९४७, जिनधर्म रहस्य (हिंदी टीका) को फाल्गुन शुक्ला १३ वि. सं. २०१० सन् १९५४, चतुर्विंशतिस्तोत्र (संस्कृत) को मगशिर शुक्ला ११ वि. सं. २०१८ सन् १९६१ में पूर्ण किया।

आचार्य विमलसागर जी ने आश्विन कृष्णा ७ वि. सं. १९७२ सन् १९१५ को कोशमां ग्राम में जन्म लिया। फाल्गुन शुक्ला १३ वि. सं. २००९ सन् १९५३ को सोनागिरि में दीक्षा ग्रहण की। मगशिर कृष्णा २ वि. सं. २०१८ सन् १९६० को टूंडला में आचार्यपद प्राप्त किया। पौष कृष्णा १२ वि. सं. २०५१ सन् १९९४ को सम्मेदशिखर में समाधिमरण किया। अपने दीक्षा काल में परंपरागत ज्ञान को, जिनवाणी का वैभव (हिंदी) को कार्तिक शुक्ला ११ वि.सं. २०१८ सन् १९५१, हे। आचार्य आदिसागर अंकलीकर (हिंदी) कार्तिक कृष्णा १० वि. सं. २०३९ सन् १९८२, संदेश (हिंदी) को आश्विन शुक्ला ९ (२३ अक्टूबर) वि. सं.२०५० सन् १९९३ को पूर्ण किया।

संदेश- हमारी आचार्य परंपरा में प्रथम मुनिकुंजर आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर हैं। आप आचार्य महावीरकीर्ति जी के दीक्षा गुरु हैं। आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर ने अपना आचार्यपद भी मुनि महावीरकीर्ति जी को दिया है। जैन समाज में आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर) की परंपरा और आचार्य शांतिसागर जी (दक्षिण) की परंपरा इस युग में निर्बाध चली आ रही है। समाज का कर्त्तव्य है कि किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों आचार्य परंपरा को आगम सम्मत मानकर वात्सल्य से धर्म प्रभावना करें।

इसी परंपरा में हमारे शिष्य आचार्य सुनीलसागरजी हैं। जिन्होंने आचार्य आदिसागर अंकलीकर से आचार्य महावीरकीर्ति से आ. विमलसागर ने जिस ज्ञान को प्राप्त किया उसी परंपरागत ज्ञान को उन्होंने प्राप्त कर अज्झप्पसारो नामक ग्रन्थ की रचनाकर अपने क्षायोपशमिक ज्ञान का सदुपयोग किया। मुमुक्षु भव्यात्माएं आत्मज्ञान करके परमात्म स्वरूप परिणमन कर सकेगी। यह कृति प्राकृत भाषा में होते हुए भी सरस भाषा-शैली में होने के कारण सभी जीवों को रूचिकर होगी। वे जिनवाणी की सेवा करते हुए केवलज्ञान ज्योति को प्रकट करें। और इसका स्वाध्याय करके भव्य प्राणी स्वयं परम विकासमय एवं शांति सफलतामय बनें। अतः इस कृति के प्रकाशन के सभी सहयोगियों को मेरा शुभाशीर्वाद है।

फरवरी- २००७ -आचार्य सन्मतिसागर

सम्पादकीय

साहित्य जीवन निर्माण और समष्टि के लिए विराट् दिशा निर्देश करता है। उसकी अभिव्यक्ति में निकटता जीवन की गंभीरता और परिवर्तन की मार्मिक भावनाएं समाहित रहती हैं। इनमें यथार्थ का परिशोध होता है, जो धर्म और दर्शन को भूमि प्रदान करता है। धर्म और दर्शन को समझने के लिए भाषा और लिपियों का विकास हुआ है। प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपी प्रागैतिहासिक हैं। प्राचीन भाषाओं में प्राकृतों और प्राकृत में शौरसेनी-प्राकृत का प्रमुख स्थान है। प्राकृत संस्कृत आदि भाषाओं की जननी है।

साहित्यकार की अभिव्यक्ति में काव्य और शास्त्र ये दोनों दृष्टियाँ समाहित होती हैं। शास्त्र में श्रेय रहता है और काव्य में अनुभूतियों का प्रयत्न रहता है। प्रस्तुत 'अज्झप्पसारो' ग्रन्थ में समयसार जैसी अनुभूतियों का समाकलन किया गया है। यह कुंदकुंद की साहित्य श्रृंखला में सम्मिलित करने जैसा ग्रंथ बन पड़ा है। चारित्रनिष्ठ, त्रिभाषाकवि, चतुर्वेद विदग्ध, श्रुताराधक, आचार्य श्री सुनीलसागरजी महाराज अंकलीकर परंपरा के महान तपस्वी आचार्य श्री सन्मतिसागरजी के योग्यतम अन्तेवासी हैं। शौरसेनी-प्राकृत भाषा के क्षेत्र में इन्होंने काफी कार्य किया है। इनकी भावणासारो, थुदि संगहो, णीदी संगहो नामक तीन प्राकृत कृतियां विद्वज्जनों में समादर को प्राप्त हुई हैं। प्राय: सभी विधाओं में देशभाषा में लिखित उनकी अनेक पुस्तकें लोकप्रिय हैं। जहाँ उनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्र की हिन्दी व्याख्या को बी.आर.ए. बिहार विश्व विद्यालय मुजफ्फरपुर ने अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है, वहीं उनकी वसुनंदि श्रावकाचार की 'सन्मति बोधिनी व्याख्या' श्रावकों का कंठाभरण बन गई है।

आचार्यश्री के प्राकृत काव्य में रस है, अलंकार है, अनुभूति है और आत्मानुभव की तीव्र प्रेरणा है। निश्चित ही उनकी आत्म-साधना उनके कल्याण में तथा काव्य-साधना भव्य जीवों के कल्याण में सहायक होगी।

उदयपुर- २००७

-प्रो. उदयचंद जैन

विषय सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मगलाचरण	१	आयु व देह निरंतर क्षीण हो रही है	२१
ग्रन्थ रचना का उद्देश्य	२	निज आत्मा ही परमात्मा है	२२
सम्यग्दर्शन का लक्षण	३	पर अपना नहीं होता	२२
सम्यग्ज्ञान का लक्षण	४	वस्तुत: सभी जीव निर्दोष हैं	२३
सम्यग्ज्ञान का कार्य	५	क्रोधादि भाव आत्मा के शत्रु हैं	२३
जिनागम विषय-कषायों का पोषण		आस्रव अशुभ व दु:खदायी है	२४
नहीं करता	५	दोषी पर भी क्रोध मत करो	२५
सम्यक्चारित्र का लक्षण	७	जिसकी होनहार भली है	२६
श्रावक का लक्षण	७	कर्मोदय में मोही मोहित होते हैं	२६
श्रमण का लक्षण	८	जड़ जड़ है, चेतन चेतन	२७
सिद्ध कौन होता है	९	ज्ञानी की पहचान	२८
जीव का लक्षण	९	भेदज्ञान की महिमा	२९
मूढ़जन सुख-दु:ख भोगते हैं	१०	आत्मा का स्वरूप	२९
संकल्प-विकल्प आत्मा को अस्थिर करते हैं	११	आत्मा में हास्यादि नहीं हैं	३०
रागादि विकल्पों से जीव बंधता है	१२	पानी पीने से सरल है आत्मानुभव	३१
आत्मस्थिरता ही मोक्षपथ पर बढ़ना है	१२	आत्मा निजस्वरूप से तो प्रगट ही है	३१
उपाधियाँ आत्म-स्थिरता में बाधक	१३	ज्ञानी आत्मानुभव कर मोक्ष पाते हैं	३२
ख्याति लाभ की चाह से मोक्ष नहीं	१४	मोही मोहित होते हैं	३३
कषाय के बिना बंध नहीं होता	१४	समभाव के बिना सब कुछ निरर्थक	३३
भावकर्म के रोध से द्रव्यकर्म रुकता है	१५	कैसा समभावी निर्वाण पाता है	३४
प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करो	१६	समता ही सब कुछ है	३४
आत्मा भावों का कर्ता है	१७	आत्मध्यान सर्वश्रेष्ठ है	३५
रागादि भावों का त्याग करो	१८	किसी भी स्थिति में भाव मत बिगाड़ो	३६
वैराग्य रहित कौन है	१८	जनसंसर्ग से बचो	३६
पुण्य-पाप दोनों संसार के कारण हैं	१९	कोई मेरा कुछ नहीं	३७
बंधुता कब तक रहती है	२०	यह मोक्षमार्ग है	३७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आत्मा ज्ञानस्वभाव संपन्न है	३८	आत्मरूप के बोध से साम्य प्रगटता है	५४
मोहभाव का त्याग ही वैराग्य है	३८	वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है	५५
परमात्मा समान मनुष्य	३९	राग-द्वेष से सुख-दुःख स्वयं भोगता है	५५
शुद्धोपयोग ही निजधर्म है	३९	तत्त्वज्ञान सारभूत है	५६
हे जीव ! चूको मत	४०	केवल पाठ करने से लाभ नहीं	५७
अहिंसा की परिभाषा	४१	विषय-कषायों को जीतो	५७
कैसी उपेक्षा अहिंसा है	४१	साम्यभाव उत्कृष्ट चारित्र है	५८
पद आपद सहित हैं	४२	परद्रव्य में नहीं ज्ञान में सुख है	५८
आत्मघाती कौन है	४३	जो एक को जानता है, वह सबको जानता है	५९
मिथ्यात्व पोषक कौन है	४३	देह व धन में राग हो तो आत्मचिंतन करो	६०
धन-पद को ऊंचा मानने वाला भी मिथ्यात्वी	४४	निजभावों से जीव का बंध-मोक्ष	६०
श्रेष्ठतम पुरुषार्थ	४४	योग व कषायों को छोड़ो	६१
ज्ञानी परमार्थ साधते हैं	४५	भूत भविष्य नहीं, वर्तमान में जियो	६२
प्रथम ही आत्महित करो	४६	इच्छा ही आकुलता है	६२
आत्महित आज ही करो	४६	खेद व हर्ष को छोड़ो	६३
परदोष दृष्टा आत्महित कैसे साधेगा	४७	आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है	६४
ज्ञाता-दृष्टा भाव कर्मों को धोता है	४७	परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि सम्यग्दर्शन है	६४
ज्ञानी अपनी कथा अपने से करते हैं	४८	निजज्ञान स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान है	६५
ज्ञानी परमें सुख नहीं मानते	४९	राग-द्वेष का त्याग सम्यक्चारित्र है	६५
ज्ञानी निज में रमते हैं	४९	रत्नत्रय जयवंत हो	६६
यदि समता चाहते हो तो परमें आदर छोड़ो	५०	मोक्ष के लिए यह करो	६६
दर्शन-सुखादि जीव में है	५१	आत्म भावना बिना व्रतादि निरर्थक हैं	६७
पर से अथवा ज्ञान से बंध नहीं होता	५१	आत्मानुभव का फल	६७
निज-स्वरूप की शरण लो	५३	वह सीखो जिससे कर्म क्षय हो	६८
जो दिखता, सो मैं नहीं	५२	यह ग्रंथ स्व-पर के कल्याण के लिए लिखा है	७९
आत्मरूप के बोध से त्याग स्वयं होता है	५३	मंगलप्पसत्ती (मंगल प्रशस्ति)	७०

----- 0 -----

परमेट्ठी-त्थुदी

(परमेष्ठी स्तुति, उपजाति-छंद)

घादि-चदुक्कं खविदूण कम्मं, अणंत-णाणादि चदुक्क पत्तं।
णिरवेक्ख-बंधू तिल्लोयणाहं, अरहंतदेवं तं हं णमामि॥१॥

णट्ठट्ठकम्मं विगदं-सरीरं, गुणट्ठ पत्तं थिर-अप्पभावं।
देहप्पमाणं सुविसुद्ध सत्तं, णिच्चं णमामि तं सिद्धभयवं॥२॥

णाणादि-आयारे पण्णं सुजुतं, सिक्खेदि सत्थं णियसिस्सवग्गं।
दिक्खादि दायं कुसलं मुणिंदं, कप्पादि-णिट्ठं पणमामि सूरिं॥३॥

आयार-सुत्तं च ठाणादि अंगे, उप्पाद-पुव्वंग इच्चादि सत्थे।
जुत्तं सयं जुंजदि साहुवग्गं, उवज्झाय-साहुं सम्मं णमामि॥४॥

आसा-कसाया विसयादु रित्तो, णाणे य झाणे समदाए चिट्ठो।
सुलीणो ति-रयणं पालणत्थे, तं साहुवग्गं सददं णमामि॥५॥

परमेट्ठिं णमुक्कारं, तिजोगेण करेदि जो।
णासेदि दुक्ख-संदोहं, कल्लाणं सव्व-पावदे॥

ॐ

॥ णमोत्थु वीदरायाणं ॥

अज्झप्पसारो

मंगलाचरण

झाणेहि जिणिंदाणं, अप्पसरुवस्स होदि सण्णाणं।
जिणव्व णिय- विहवत्थं, 'णमो जिणाणं' तिजोगेणं ॥१॥

अन्वयार्थ- (जिणिंदाणं) जिनेन्द्र भगवंतों के *(झाणेहि)* ध्यान से *(अप्प-सरूवस्स)* आत्मस्वरूप का *(सण्णाणं)* सम्यग्ज्ञान *(होदि)* होता है,[इसलिए] *(जिणव्व णियविहवत्थं)* जिनेन्द्र के समान निज वैभव के लिए *(तिजोगेणं)* तीनों योगों से *(जिणाणं)* जिनों को *(णमो)* नमस्कार हो।

अर्थ- श्री जिनेन्द्र भगवंतों का ध्यान करने से निज-आत्मस्वरूप का भान होता है, इसलिए जिनेन्द्र भगवान के समान निज वैभव की प्राप्ति के लिए मन, वचन, काय रूप तीनों योगों से जिनेन्द्र भगवंतों को नमस्कार हो।

व्याख्या- जिन्होंने इंद्रियों व कषायों को जीता है तथा जन्म-मरण आदि अठारह दोषों से रहित हैं वे जिन कहलाते हैं। जिनों में भी जो प्रमुख हैं ऐसे तीर्थंकर देव जिनेन्द्र कहलाते हैं अथवा विषय-कषायों पर विजय करने वाले मुनियों में जो प्रमुख हैं ऐसे अरिहंत जिनेन्द्र कहलाते हैं। ऐसे जिनेन्द्रों का ध्यान करने से निजात्म-स्वरुप का भलीभांति बोध होता है, जैसा कि प्रवचनसार ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद देव ने कहा है-

जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं॥८०॥

अर्थात् जो द्रव्य, गुण, पर्यायों सहित अरिहंत भगवान को जानता है वह अपने आत्मस्वरूप को भी जानता है, इस कारण उसका मोह विलय को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए निज-आत्मा के अनंतगुणरूपी वैभव की उपलब्धि के लिए मैं मन-वचन-कायरूप तीनों योगों को एकाग्रकर जिनेन्द्र भगवंतोंको नमस्कार करता हूँ। 'मंगलस्वरूपोऽहम्।'

जिणदेवो परदेवो, णिय अप्पा णिच्छएण णियदेवो।
झाऊण जिणिंदाणं, अप्पा अप्पम्मि थिरो होदु॥२॥

अन्वयार्थ- (जिणदेवो) जिनदेव *(परदेवो)* परदेव हैं *(णिय अप्पा णिच्छएण णियदेवो)* निज आत्मा निश्चय से निजदेव हैं [इसलिए] *(जिणिंदाणं झाऊण)* जिनेन्द्रों का ध्यान करके *(अप्पा अप्पम्मि थिरो होदु)* आत्मा से आत्मा में स्थिर होओ।

अर्थ- निजात्मद्रव्य की अपेक्षा वीतरागी जिनदेव भी पर-देव हैं, वस्तुत: निजात्मा ही निजदेव है, इसलिए जिनेन्द्र भगवन्तों का ध्यान करके निज आत्मा से निजात्मा में ही स्थिर होओ।

व्याख्या- संपूर्ण जगत में मुख्यत: छह द्रव्य हैं- १.जीव, २.पुद्गल, ३.धर्म, ४.अधर्म, ५.आकाश, ६.काल। जीव के अलावा शेष द्रव्य अजीव (अचेतन) हैं। जीव द्रव्य चैतन्यगुण युक्त असंख्यात प्रदेशी है, अनंतानंत जीव इस लोक में हैं, प्रत्येक जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता है। पुद्गल द्रव्य पूरण-गलन स्वभाव वाला अथवा स्पर्श रस गंध व वर्ण गुण से युक्त, अचेतन, उदासीन, संख्यात-असंख्यात-अनंत प्रदेशी क्रियावान द्रव्य है। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गल के गमन में उपकारक, अचेतन, उदासीन, असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवगाह देने वाला अनंत (लोकापेक्षा असंख्यात) प्रदेशी, अचेतन, उदासीन एक द्रव्य है। कालद्रव्य सभी द्रव्यों की वर्तना में उपकारक अचेतन, उदासीन, एक प्रदेशी (अप्रदेशी) द्रव्य है।

इन छहों द्रव्यों की स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता है। ये एक-दूसरे का उपकार करते हुए भी एकमेक नहीं होते। धर्म, अधर्म तथा आकाश ये अविभागी एक-एक द्रव्य हैं; काल अनंत समय रूप अप्रदेशी द्रव्य है; पुद्गल एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी आदि संख्यात, असंख्यात, अनंत तथा अनंतानंत प्रदेशी रूप है; जीव अनंतानंत हैं।

प्रत्येक जीव ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों से युक्त स्वतंत्र सत्ता

वाला क्रियावान चैतन्य द्रव्य है। जो जीव अपने पुरुषार्थ से कर्ममल से रहित शुद्ध हो गए हैं, वे अरहंत-सिद्ध शुद्ध हैं, शेष अशुद्ध जीव हैं। यह संसारी साधारण जीव ही जिनेन्द्र-रूप श्रेष्ठ शुद्धदशा को प्राप्त करता है। अब तक जो जिनदेव हो गए, वे इस आराधक जीव की अपेक्षा से तो अन्य ही हैं। यह स्वयं ही उन जैसे स्वरूप को उपलब्ध कर सकने की संभावना वाला होने से स्वयं के लिए निजदेव है। अत: बाह्य में जिनेन्द्र के स्वरूप को जानकर, ध्यानकर निजस्वरूप में ही लीन होना चाहिए। 'आत्मदेवोऽहम्।'

सम्यग्दर्शन का लक्षण

अप्पाणं सद्दहणं, तच्चत्थं देव गुरु सु-सत्थाणं।
पंचत्थिकायाणं, छद्दव्वाणं च अत्थि सम्मत्तं ॥३॥

अन्वयार्थ- *(अप्पाणं)* आत्मा का *(तच्चत्थं)* तत्त्वार्थ का *(देव गुरु सु-सत्थाणं)* सुदेव-गुरू-शास्त्र का *(पंचत्थिकायाणं)* पंचास्तिकाय का *(च)* अथवा *(छद्दव्वाणं)* छहद्रव्यों का *(सद्दहणं)* श्रद्धान करना *(सम्मत्तं)* सम्यक्त्व *(अत्थि)* है।

अर्थ- आत्मा का, तत्त्वार्थ का, परमार्थभूत देवशास्त्रगुरु का, पंचास्तिकाय अथवा छह द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

व्याख्या- ज्ञान-दर्शन आदि अनंतगुण वाले आत्मतत्त्व का; जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्त्वार्थों का; सच्चे वीतरागी जिनदेव, निर्ग्रंथ गुरू व अहिंसा के प्रतिपादक शास्त्रों का; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, व आकाश इन पंचास्तिकायों का; तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन छह द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है। उपरोक्त विषय को भलीभांति जानकर, श्रद्धानकर निज आत्म-स्वरूप को सबसे पृथक ज्ञायक स्वरूप श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के क्षायिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक ये तीन अथवा निसर्गज व अधिगमज की अपेक्षा दो भेद हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करणलब्धि की अनिवार्यता है।

ज्ञान, पूजा, कुल जाति, बल, ऋद्धि, तप व शरीर इन आठ मदों (मानों); शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य व अप्रभावना इन आठ दोषों; कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु तथा इनके सेवक रूप छह अनायतनों तथा देव-गुरु व पाखंडी मूढ़ता रूप तीन मूढ़ताओं (२५ दोष) के त्याग से सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। 'सम्यग्दर्शन-सहितोऽहम्।'

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

जारिसं अत्थि वत्थू, णाणं जाणेदि तारिसं णिच्चं।
तं णाणं सण्णाणं, अप्पाणप्पा य भासदे जेण॥४॥

अन्वयार्थ- (जारिसं अत्थि वत्थू) वस्तु जैसी है *(णाणं जाणेदि तारिसं णिच्चं)* ज्ञान हमेशा वैसी ही जानता है, *(जेण)* जिससे *(अप्पाणप्पा य भासदे)* आत्मा-अनात्मा का ज्ञान होता है *(तं णाणं सण्णाणं)* वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
अर्थ- वस्तु जैसी है, ज्ञान वैसी ही जानता है, जिससे आत्मा-अनात्मा का ज्ञान होता है; वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।
व्याख्या- जो वस्तु-तत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान है तथा जिससे वस्तु का यथावत निर्णय होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

संशय- अपने तथा पर के स्वरूप को समझे बिना मैं जीव हूँ या शरीर इस प्रकार का द्वि-कोटि स्पर्श संशय कहलाता है।

विपर्यय- वस्तु स्वरूप के सम्यग्ज्ञान बिना मैं शरीर हूँ, ऐसी विपरीत मान्यता रखना।

अनध्यवसाय-सम्यग्ज्ञान न होने से मैं जीव हूँ, या शरीर हूँ, कर्म हूँ, बंध, उदय, सत्व, अध्यवसान या अन्य कुछ और हूँ, ऐसी जो अनेक कोटि-स्पर्शी मान्यता है, वह अनध्यवसाय है।

इन तीनों दोषों से रहित सप्ततत्त्व तथा आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। इसके पाँच भेद हैं- १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान, ५. केवलज्ञान। 'सम्यग्ज्ञानसम्पन्नोऽहम्।'

रागो जेण विणस्सदि, मित्ती सेयो धिदि य पुट्ठेदि।
अत्ता वचो विसुज्झदि, जिणिंद-कहिदं हि तं णाणं॥५॥

अन्वयार्थ- (जेण) जिससे *(रागो विणस्सदि)* राग विनष्ट होता है, *(मित्ती सेयो धिदि य पुट्ठेदि)* मैत्री, श्रेय व धृति पुष्ट होती है, *(अत्ता वचो विसुज्झदि)* आत्मा व वचन विशुद्ध होता है *(हि)* वस्तुतः *(तं)* वह *(जिणिंद-कहिदं)* जिनेन्द्र-कथित ज्ञान है।

अर्थ- जिससे राग नष्ट होता है, मैत्री, श्रेय व धृति पुष्ट होती है तथा आत्मा व वचन विशुद्ध होता है, वस्तुतः वह ही जिनेन्द्र कथित ज्ञान है।

व्याख्या- जिस श्रेष्ठ आत्मानुभवरूप ज्ञान से वस्तुस्वरूप का, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों का सम्यग्ज्ञान होने से परवस्तुओं के प्रति आसक्तिरूप राग नष्ट होकर वीतरागता प्रगट होती है; जगत के समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव, स्व-पर के श्रेय (कल्याण) की भावना व धैर्य अथवा धारणा अत्यंत पुष्ट होकर निर्भयता आती है तथा आत्मतत्त्व की कर्मों से रहितता रूप शुद्धि व वचन की भाषा समिति युक्त प्रवृत्ति रूप विशुद्धि होती है; वस्तुतः ऐसा जो जिनेन्द्रकथित ज्ञान है वह ही सम्यग्ज्ञान है। 'ज्ञानस्वरूपोऽहम्।'

जिनागम विषय-कषायों का पोषण नहीं करता

जिणागमो ण पोसदि, विसय-कसायं च भोग-अण्णाणं।
पढिदूण भमेदि भवे, अमिदं पीऊण सो मरेदि॥६॥

अन्वयार्थ- (जिणागमो) जिनागम *(विसय-कसायं च भोग-अण्णाणं)* विषय, कषाय, भोग और अज्ञान को *(ण पोसदि)* नहीं पोषता [किंतु जो मनुष्य जिनवाणी] *(पढिदूण)* पढ़कर *(भवे भमेदि)* संसार में भ्रमण करता है [सो] वह *(अमिदं पीऊण)* अमृत पीकर *(मरेदि)* मरता है।

अर्थ- जिनागम विषय, कषाय, भोग और अज्ञान का पोषण नहीं करता; किन्तु जो मनुष्य जिनवाणी पढ़कर संसार में भटकता है, उसे ऐसा समझो कि वह अमृत पीकर मरता है।

व्याख्या- सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए अनुलंघ्यनीय, दृष्ट व इष्ट तत्त्व के अविरोधी, विषय-कषायादि कुपथ को नष्ट करने वाले वचनों से रचित ग्रंथों को जिनागम कहते हैं। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है-

आप्तोपज्ञ मनुलंघ्य-मदृष्टेष्ट विरोधकं।
तत्त्वोपदेश कृत सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

वर्तमान के उपलब्ध आगमग्रंथों में आचार्य गुणधर का कसाय पाहुड, आचार्य पुष्पदंत भूतबली का षट्खंडागम, आचार्य कुंदकुंद के समयसारादि, आचार्य वट्टकेर का मूलाचार, आचार्य शिवार्य की मूलाराधना तथा आचार्य गृद्धपिच्छ का तत्त्वार्थसूत्र आदि कुछ ही ऐसे ग्रंथ हैं, जिनका सीधा सम्बंध द्वादशांग श्रुत से है। इनके अलावा भवभीरू दिगम्बर जैनाचार्यों ने गुरु परम्परा से प्राप्त हुए जिस श्रुतज्ञान से ग्रंथों की रचना की है, वे भी जिनागम कहलाते हैं।

दिगम्बर परम्परा के अधिकांश श्रेष्ठतम ग्रंथ ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व के हैं, जबकि श्वेताम्बर ग्रंथ पांचवी शताब्दी या इसके बाद के हैं। अन्य सम्प्रदायों के ग्रंथ आगम की कोटि में नहीं आते।

वस्तुतः जैनागम पंचेन्द्रियों के विषयभोग या क्रोधादि कषायों का पोषण नहीं करता, क्योंकि ये आत्मा को दुर्गति में ले जाने वाले हैं। जिनवाणी तो जीवों के विषय-कषाय व अज्ञान को नष्ट करती है। इसके विपरीत समयसार आदि श्रेष्ठ ग्रंथों को पढ़कर कोई मनुष्य स्वच्छंदी होकर 'ज्ञानी को बंध नहीं होता' ऐसा कहकर विषयासक्त होता है; तो कहते हैं कि वह अमृत पीकर भी मरने वाले के समान है।

जैसे लोक में अमृत को अमर करने वाला कहा जाता है, वैसे ही जिनवाणी मोक्ष देती है, दुःख व अज्ञान से छुड़ाकर सुखी करती है; किंतु कोई मनुष्य शास्त्र पढ़कर भी अनर्गल प्रवृत्ति करे, तो समझो कि वह अमृत पीकर भी मर रहा है। 'विषय-कषायशून्योऽहम्।'

सुहे पवित्ती चरणं-ववहारा णिच्छएण चारित्तं।
एगोहं सुद्धोहं, णादा-दिट्ठा य अणुहवणं ॥७॥

अन्वयार्थ- (सुहे पवित्ती) शुभ में प्रवृत्ति *(ववहारा)* व्यवहार से *(चरणं)* चारित्र है, *(च)* तथा *(एगोहं सुद्धोहं, णादा-दिट्ठा य अणुहवणं)* मैं एक हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा अनुभव करना *(णिच्छएण)* निश्चय से *(चारित्तं)* चारित्र है।

अर्थ- शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहार नय से चारित्र कहलाता है। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा अनुभव करना निश्चय चारित्र कहलाता है।

व्याख्या- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह इन पांच व्रतों से युक्त होकर देव-पूजा, गुरु-उपासना, दान, स्वाध्याय, तप तथा संयम आदि में विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करना शुभ प्रवृत्ति; व्यवहार चारित्र कहलाती है। मैं शुद्धबुद्ध, एक, ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ, ऐसा इस प्रकार अनुभव करना निश्चय चारित्र कहलाता है। 'चारित्रसंपन्नोऽहम्'।

श्रावक का लक्षण

जिण-पूया मुणि-दाणं, करेदि पालदि अणुव्वयादिं जो।
सो सावगो त्ति भणिदो, छक्कम्म परायणो बुद्धो ॥८॥

अन्वयार्थ- (जो) जो *(जिण-पूया मुणि दाणं, करेदि)* जिन पूजा, मुनि-दान करता है *(पालदि अणुव्वयादिं)* अणुव्रतादि का पालन करता है [तथा] *(छक्कम्म परायणो)* षट्कर्म परायण *(बुद्धो)* विवेकी *(सो सावगो त्ति भणिदो)* वह श्रावक कहा गया है।

अर्थ- जो जिनेन्द्र देव की पूजा करता है, मुनियों को आहारादि दान देता है, अणुव्रतादि का पालन करता है तथा षट्कर्म परायण है, वह बुद्धिमान श्रावक कहा गया है।

व्याख्या- जो विवेकी गृहस्थ श्री वीतराग जिनेन्द्र भगवान; सच्चे, देव, शास्त्र, गुरु और परमेष्ठियों की पूजा करता है; मुनिराजों तथा त्यागी-व्रतियों को आहार, औषधि, शास्त्र व अभयदान देता है; अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रह परिमाण अणुव्रत का पालन करता है तथा षट्कर्मों

में परायण है, वह श्रावक कहलाता है।

देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान ये श्रावक के षट्कर्त्तव्य कहलाते हैं। जैसा कि आचार्य सोमदेव ने कहा है-

देव पूजा गुरूपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने॥

गृहस्थ श्रावक की अपेक्षा कदाचित् षट्कर्मों में असि, मसि, कृषि, शिल्पकला, विद्या व वाणिज्य को भी लिया जा सकता है। क्योंकि इन षट्कर्मों से आजीविका करता हुआ भी गृहनिरत श्रावक धर्मात्मा हो सकता है। गृहविरत श्रावक के यह कर्म नहीं पाए जाते हैं। कुंदकुंद देव ने रयणसार (११) में दान व पूजा श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य कहा है। जो इन कर्त्तव्योंसे रहित है, उसे श्रावक कैसे कहा जा सकता है? 'षट्कर्मपरायणोऽहम्।'

श्रमण का लक्षण

विसय-कसाया रित्तो, झाणज्झयणे रदो य णिग्गंथो।
पंचमहव्वद जुत्तो, समणो सो मोक्खमग्ग-रदो ॥९॥

अन्वयार्थ- [जो] *(विसय-कसाया रित्तो)* विषय-कषायों से रहित *(झाणज्झयणे रदो)* ध्यान-अध्ययन में रत *(णिग्गंथो)* निर्ग्रंथ *(य)* तथा *(पंचमहव्वद जुत्तो)* पाँच महाव्रत युक्त है *(सो)* वह *(मोक्खमग्ग-रदो)* मोक्षमार्गरत *(समणो)* श्रमण है।

अर्थ- जो विषय-कषायों से रहित, ध्यान-अध्ययन में लीन, नग्न-दिगम्बर तथा पाँच महाव्रत युक्त है, वह मोक्षमार्गस्थ श्रमण [साधु] है।

व्याख्या-जो महान धैर्ययुक्त महानुभाव पंचेन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों की वासना व क्रोधादि कषायों की ज्वाला से रहित हैं; पंचपरमेष्ठी व आत्मध्यान में तल्लीन, अध्ययन-अध्यापन में संलग्न; बाह्य व अभ्यंतर परिग्रह से रहित नग्न दिगम्बर तथा अहिंसा आदि पांच महाव्रतों से संयुक्त हैं, वे सच्चे श्रमण (साधु) कहलाते हैं।

जो आत्मशुद्धि हेतु श्रम करते हैं, आत्मलीनता रूप पुरुषार्थ करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। अथवा जो आत्मा की साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। दिगम्बर मुनि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। 'श्रमणोऽहम्।'

सिद्ध कौन होता है

इत्थी-विसए अंधो, मूगो बहिरो असण्णीतुल्लो जो।
णाणी साहू य गिही, मोक्खपहे सो हि सिज्झेदि॥१०॥

अन्वयार्थ- (जो) जो महानुभाव *(इत्थी-विसए)* स्त्री के विषय में *[अंधो, मूगो बहिरो असण्णीतुल्लो)* अंधा, मूक, बधिर व असंज्ञीतुल्य है *(सो)* वह *(णाणी साहू य गिही)* ज्ञानी साधु व गृही *(हि)* ही *(मोक्खपहे)* मोक्षमार्ग में *(सिज्झेदि)* सिद्ध होता है।

अर्थ- जो महानुभाव स्त्री का रूप देखने में अंधा, अनावश्यक बात करने में मूक, व्यर्थ के शब्द सुनने में बधिर तथा रूपादि का विचार करने में असंज्ञी के समान आचरण करता है, वह ज्ञानी साधु तथा गृहस्थ परंपरा से निश्चित ही मोक्षमार्ग में सिद्ध होते हैं।

व्याख्या-जो धैर्यवान, स्थिरचित्त महानुभाव स्त्री का रूप देखने में अंधे के समान, उनसे अनर्गल बातचीत करने में मूक (गूंगे) के समान, गीत या आकर्षक शब्द सुनने में बहिरे के समान तथा स्त्रियों के प्रति आकर्षण बढ़ाने वाले विचारों में असंज्ञी के समान व्यवहार (आचरण) करते हैं, वे ज्ञानी मुनिजन उसी भव या अन्य भव से तथा गृहस्थ जन मुनिव्रत धार उसी भव या परंपरा से मोक्षमार्ग में सिद्ध होते हैं अर्थात मुक्ति प्राप्त करते हैं। 'न्चांचल्यरहितोऽहम्।'

जीव का लक्षण

उवओगमओ जीवो, सुद्धासुद्धेहिं भासिदो दुविहो।
वीओ सुहो य असुहो, सुद्धुवओगो उवादेओ॥११॥

अन्वयार्थ- (जीवो उवओगमओ) जीव उपयोगमय है [उपयोग] *(सुद्धासुद्धेहिं)* शुद्ध व अशुद्ध के भेद से *(दुविहो)* दो प्रकार का *(भासिदो)* कहा गया है *(वीओ सुहो य असुहो)* दूसरा शुभ व अशुभ है [जबकि] *(सुद्धुवओगो उवादेओ)* शुद्धोपयोग उपादेय है।

अर्थ- उपयोग जीव का लक्षण है। वह शुद्धोपयोग व अशुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। दूसरा अशुद्धोपयोग शुभ व अशुभ भेद वाला है, जबकि शुद्धोपयोग उपादेय है।

व्याख्या- ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य का अनुविधायी परिणाम उपयोग कहलाता है (सर्वार्थसिद्धि)। उपयोग जीव का लक्षण है, जैसा कि आचार्य गृद्धपिच्छ ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-'उपयोगो लक्षणं (२/८)। ज्ञान-दर्शन वाला ही जीव है, इनसे युक्त ही जीव की भाव-दशा पाई जाती है।

शुद्धोपयोग व अशुद्धोपयोग की अपेक्षा उपयोग दो प्रकार का है। शुद्धोपयोग निज शुद्धात्मा के अनुभव रूप है। अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है- १. शुभोपयोग, २. अशुभपयोग।

१. शुभोपयोग- देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, आत्मचिंतन रूप शुभ परिणामों (भावों) को शुभोपयोग कहते हैं, इससे सुखदायक पुण्यबंध होता है।

२. अशुभोपयोग- विषय-कषायरूप अशुभ परिणामों को अशुभोपयोग कहते हैं, इससे दुःखदायक पाप का आस्रव-बंध होता है। ये दोनों संसार के कारण हैं। अशुभोपयोग सर्वथा हेय है। हेय होते हुए भी शुभोपयोग कथंचित उपादेय है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग ही उपादेय है। कर्म व कर्मफल चेतना हेय है, ज्ञान चेतना उपादेय है। 'उपयोगस्वरूपोऽहम्।'

मूढ़जन सुख-दुःख भोगते हैं

पास्स! पहूए णाणे, लोगालोगं च भासदे सम्मं।
तो वि पहु णियलीणो, मूढा भुंजंति सुह-दुक्खं॥१२॥

अन्वयार्थ- (पास्स!) देखो! *(पहूए णाणे)* प्रभू के ज्ञान में *(लोगालोगं च)* लोक व अलोक *(सम्मं)* अच्छी तरह *(भासदे)* प्रतिभाषित होता है *(तो वि)* फिर भी *(पहु णियलीणो)* प्रभू निजलीन हैं [जबकि] *(मूढा भुंजंति सुह-दुक्खं)* मूढजन सुख-दुःख भोगते हैं।

अर्थ- देखो! प्रभुजी के ज्ञान में समस्त लोकालोक भासित होता है, फिर भी वे निज में लीन हैं, जबकि थोड़ा सा जानकर भी मूढ़जन सुख-दुःख को भोगते हैं।

व्याख्या- हे भव्यजीवों! अंतस की आँखों से देखो कि वीतरागी सर्वज्ञ प्रभु के केवलज्ञान में, ज्ञानावरण आदि कर्मों के नष्ट हो जाने से लोकालोक के समस्त द्रव्यों की सभी गुण-पर्याएं एक ही काल में एक साथ प्रतिभासित होती हैं, झलकती हैं। संपूर्ण चराचर को जानने के बाद भी मोहनीय आदि

कर्मों के अभाव हो जाने से आत्मस्थिरता को प्राप्त हो जाने के कारण प्रभु निज में ही लीन हैं। उनमें किंचित् भी अस्थिरता (चंचलता) नहीं है, क्योंकि उन्होंने शुद्धात्मानुभव के माध्यम से अस्थिर करने वाले ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अंतराय आदि सभी कर्मों का नाश कर दिया है, इसलिए वे निज में लीन रहते हुए, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख व अनंतवीर्य आदि अनेक गुणों का भोग करते हैं।

उनके विपरीत संसारी मूढ जीव थोड़ी सी वस्तुओं को जानकर अपने ही राग-द्वेष परिणामों से सुख अथवा दुःख भोगते हैं। वस्तु में अथवा वस्तु के जानने में सुख-दुःख नहीं है। सुख-दुःख अपनी मान्यता से उत्पन्न होता है। अतः मान्यता सुधारो, अपने को ज्ञायक तथा वस्तुओं को ज्ञेय समझो व सुखी हो लो। 'रत्यरतिरहितोऽहम्।'

संकल्प-विकल्प आत्मा को अस्थिर करते हैं

संकप्पा य वियप्पा, अथिरं कुव्वंति अप्पणं णिच्चं।
जदि णासिज्ज वियप्पा तो पुण दुक्खस्स किं हेदू॥१३॥

अन्वयार्थ- (अप्पाणं) आत्मा को *(संकप्पा य वियप्पा)* संकल्प व विकल्प *(णिच्चं)* नित्य *(अथिरं कुव्वंति)* अस्थिर करते हैं *(जदि णासिज्ज वियप्पा)* यदि विकल्प नष्ट हो जावें *(तो पुण दुक्खस्स किं हेदू)* तो फिर दुःख का क्या कारण?

अर्थ- संकल्प और विकल्प आत्मा को निरंतर अस्थिर करते हैं। यदि ये विकल्प नष्ट हो जावें तो फिर दुःख का क्या कारण?

व्याख्या- यह धन, परिवार, देह आदि मेरा है, इस प्रकार का विचार संकल्प है। क्रोध-मान आदि मेरे हैं, इस प्रकार का भाव विकल्प है। आत्मज्ञान के अभाव में परपदार्थों से एकत्व करना, उन्हें अपना मानना ही भूल है। 'मैं और मेरा' के कारण ही यह जीव तरह-तरह के अच्छे-बुरे संकल्प-विकल्प करता है। जिससे आकुलता बनी रहती है, इस आकुलता में कभी जीव सुखानुभव भी करता है, किंतु यह दुःख ही है। ये विभाव ही आत्मा को अस्थिर करते हैं। यदि ये नष्ट हो जावें तो फिर दुःख का क्या कारण शेष रहता है? कुछ भी नहीं। 'संकल्प-विकल्पशून्योऽहम्।'

रागादि विकल्पों से जीव बंधता है

रागादि वियप्पेहिं, जीवो बज्झेदि बहुविहं कम्मं।
रागादि णिरोहेहिं, सुक्खं वेदेदि अप्पभवं ॥१४॥

अन्वयार्थ- (रागादि वियप्पेहिं) रागादि विकल्पों से *(जीवो)* जीव *(बहुविहं कम्मं बज्झेदि)* बहुविध कर्म बांधता है [जबकि] *(रागादि णिरोहेहिं)* रागादि के निरोध से *(अप्पभवं सुक्खं वेदेदि)* आत्मा से उत्पन्न सुख भोगता है।

अर्थ- यह जीव रागादि विकल्पों से बहुविध कर्मबंध करता है, जबकि रागादि के निरोध से आत्मोत्पन्न सुख का वेदन करता है।

व्याख्या- यह संसारी चैतन्य आत्मा अज्ञानदशा में राग, द्वेष, क्रोधादि, कषाय, हास्यादि नोकषाय तथा असंख्यात लोक प्रमाण रागादि भावों से ज्ञानावरणादि बहुत प्रकार के भवभ्रमणकारी दुःखदायक कर्मो का आस्रव-बंध करता है; किंतु जब इसे आत्मस्वभाव तथा परभावों का स्वरुप प्रतिभासित होता है, तब आत्मस्वरुप के आलम्बन से रागादि विकल्पों का निरोध कर आत्मा से उत्पन्न अनाकुलतारूप आनंद का वेदन करता है।यह आत्मानुभव की स्थिति ही शुद्धोपयोग कहलाती है। यह ही आत्मस्थिरता और संवरदशा है। 'रागादिविकार रहितोऽहम्।'

आत्मस्थिरता ही मोक्षपथ पर बढ़ना है

जह जह वड्ढदि थिरदा, वियप्प-रहिदं अणाकुलत्तं वा।
तह तह वड्ढदि अप्पा , मोक्खपहे णिम्मले सम्मं ॥१५॥

अन्वयार्थ- (जह जह) जैसे-जैसे *(थिरदा)* स्थिरता *(वा)* अथवा *(वियप्प-रहिदं अणाकुलत्तं)* विकल्प रहित अनाकुलता *(वड्ढदि)* बढ़ती है *(तह तह)* वैसे-वैसे *(अप्पा)* आत्मा *(णिम्मले मोक्खपहे)* निर्मल मोक्षमार्ग में *(सम्मं)* अच्छी तरह *(बड्ढदि)* बढ़ता है।

अर्थ- आत्मस्वरूप में जैसे-जैसे स्थिरता अथवा विकल्प रहित अनाकुलता बढ़ती है, वैसे-वैसे आत्मा निर्मल मोक्षमार्ग में अच्छी तरह बढ़ता है।

व्याख्या-तेरह प्रकार का चारित्र अथवा अट्ठाईस मूलगुण आदि ज्ञान-ध्यान के साधन हैं। ज्ञान-ध्यान आत्मस्थिरता के साधन हैं। आचार्य श्री आदिसागर

जी (अंकलीकर) कहते हैं कि 'व्रत-संयम परिणामों की विशुद्धि के साधन हैं; जिन व्रतों के पालन में परिणाम संक्लेसित होते हों, वे कर्म-निर्जरा के साधन कैसे हो सकते हैं?' ख्याति-लाभ या पूजा-प्रतिष्ठा के लिए व्रत धारण करना, भूसे के लिए धान्य बोने के समान है। आचार्य कुंदकुंद भावपाहुड में कहते हैं-

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजण-करणं, बाहिर-वय-वेस तं कुणसु॥९०॥

अर्थात् इंद्रियसेना को भग्न करो, मन-मर्कट को प्रयत्नपूर्वक भग्न करो तथा लोगो के मनोरंजन के लिए व्रत-संयम को धारण मत करो। आत्मस्वरूप में तल्लीनता बढ़ना ही वस्तुतः अच्छी तरह से मोक्षमार्ग में बढ़ना कहलाता है। 'आत्मस्वरूपस्थिरोऽहम्।'

उपाधियाँ आत्म-स्थिरता में बाधक

जदि अत्थि णिरुवाही, उवाही भावेण किंच मा रज्ज।
सरीर-विहवोवाहिं, अथिरत्तस्स कारणं मुंच॥१६॥

अन्वयार्थ- (जदि) यदि [तुम] *(णिरुवाही अत्थि)* निरुपाधि हो [तो] *(उवाही भावेण)* उपाधि भाव से *(किंच)* किंचित भी *(मा रज्ज)* रंजित मत होओ [अपितु] *(सरीर-विहवोवाहिं)* शरीर व वैभवोपाधि रूप *(अथिरत्तस्स कारणं)* अस्थिरता के कारण को *(मुंच)* छोड़ो।

अर्थ- हे जीव! यदि तुम निरुपाधि हो तो उपाधियों के भावों से किंचित भी रंजित मत होओ, देह व वैभव की उपाधि अस्थिरता के कारण है, इन्हें छोड़ो।

व्याख्या- हे चैतन्य आत्मन्! यदि तुम देह, गृह, समाज, राष्ट्र अथवा धर्मसंघ आदि की उपाधि (पद) से रहित हो तो उपाधियों के अर्थ रंजित मत होओ। उपाधियों को प्राप्त करने का भाव (पुरुषार्थ) तथा तत्संबधी अहंकार मत करो। अस्थिरता के कारण भूत देह में ममत्व अथवा सुंदर बनाए रखने रूप उपाधि तथा वैभव प्रदर्शित करने वाली पद- प्रतिष्ठा या धन आदि की उपाधि का त्याग करो।

आत्मस्वरूप को समझ कर सामाजिक, राजनैतिक अथवा धर्मसंघ से सम्बंधित उपाधियाँ ग्रहण करने से बचो, क्योंकि इनसे संकल्प- विकल्पों की वृद्धि होती है। कदाचित उपाधियाँ प्राप्त हैं, तो उनमें अहंकार/ममकार मत करो। 'उपाधिवर्जितोऽहम्'।

ख्याति लाभ की चाह से मोक्ष नहीं

इच्छदि खादिं लाहं, सुहकम्मं जो हि मण्णदे सेट्ठं।
ण य जाणदि णियरूवं, पावहि किह णिम्मलं मोक्खं॥१७॥

अन्वयार्थ- (जो) जो *(खादिं लाहं)* ख्याति-लाभ चाहता है, *(हि)* सर्वथा *(सुहकम्मं)* शुभकर्म को *(सेट्ठं)* श्रेष्ठ *(मण्णदे)* मानता है *(य)* और *(णियरूवं ण जाणदि)* आत्मस्वरूप को नहीं जानता है [वह] *(णिम्मलं मोक्खं)* निर्मल मोक्ष को *(किह)* कैसे *(पावहि)* पाएगा?

अर्थ- जो साधु ख्याति-लाभ की चाहना रखता है, सर्वथा शुभकर्म को उपादेय मानता है तथा निजात्मस्वरूप को नहीं जानता है, वह मोक्ष कैसे पावेगा?

व्याख्या- उपाधियों के रहते हुए भी कोई महानुभव निरुपाधि हो सकते हैं, तथा कोई अल्पज्ञ उपाधियों के अयोग्य होने पर भी विकल्पों में रचे रह सकते हैं।

प्रस्तुत गाथा में यह कहा जा रहा है कि जिसको पूजा-प्रतिष्ठा की चाहना रूप विकल्प है, पुण्यकर्म ही श्रेष्ठ है ऐसी आत्मानुभव के अभाव में नित्य धारणा है तथा जिसने शुभाशुभ कर्मोपाधि से रहित निजस्वरूप को नहीं जाना है, बताओ उसे निर्मल आत्मोपलब्धि रूप मोक्ष कैसे मिलेगा? अर्थात् कैसे भी नहीं। 'ख्यातिलाभेच्छारहितोऽहम्।'

कषाय के बिना बंध नहीं होता

जत्थ ण अत्थि कसाया, तत्थ मणे किह हवेज्ज कालुस्सं।
बंधेज्ज केण कम्मं, केण दु जीवो भवे भमहिदि॥१८॥

अन्वयार्थ- (जत्थ) जहाँ *(कसाया)* कषाएं *(ण अत्थि)* नहीं हैं *(तत्थ मणे किह हवेज्ज कालुस्सं)* वहाँ मन में कालुष्य कैसे होगा [तब] *(कम्मं)* कर्म *(केण)* किससे *(बंधेज्ज)* बंधेगा *(केण दु जीवो भवे भमहिदि)* तथा किससे

जीव संसार में भ्रमेगा?

अर्थ- जहाँ कषायभाव नहीं है, वहाँ मन में कलुषता कैसे होगी? तब कर्म किससे बंधेगा और किससे जीव संसार में भ्रमण करेगा?

व्याख्या- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबंध के भेद से बंध चार प्रकार का है। योग से प्रकृति व प्रदेश तथा कषाय से स्थिति व अनुभाग बंध होता है। जैसा कि द्रव्य संग्रह में कहा है-

पयडिट्ठिदि अणुभागा, पदेसभेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडि पदेसा, ठिदी अणुभागा कसायदो होंति॥

मन-वच-काय रूप योगों से प्रकृति व प्रदेश बंध होता है, जबकि कषायों से स्थिति (मर्यादा) व अनुभाग (फल) बंध होता है। जैसे तीव्र-मंद कषायभाव होगें स्थिति व अनुभाग बंध उसी तीव्रता से बंधेंगे। कषायों के बिना प्रकृति और प्रदेश बंध कुछ काम नहीं कर पाते हैं। अत: बंध का मूलकारण कषाय है।

जहाँ कषाय न हो, वहाँ उपयोग (मन) में कलुषता (मैलापन) क्यों होगी और जहाँ उपयोग में कलुषता नहीं होगी, वहाँ कर्मबंध कैसे होगा? तब कर्मबंध के अभाव में यह जीवात्मा संसार में किस कारण से भटकेगा? अर्थात् नहीं भटकेगा; क्योंकि कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव निश्चित हो जाता है। 'कषायभावशून्योऽहम्।'

भावकर्म के रोध से द्रव्यकर्म रुकता है

भावकम्मस्स रोहे, हि दव्वकम्मस्स णिरोहणं होदि।
दोण्हं पि णिरोहेण य, जीवो मोक्खं खु पप्पोदि॥१९॥

अन्वयार्थ- (भावकम्मस्स रोहे) भावकर्म का रोध होने पर *(हि)* निश्चित ही *(दव्वकम्मस्स णिरोहणं होदि)* द्रव्यकर्म का निरोध होता है *(य)* और *(दोण्हं पि णिरोहेण)* दोनों के रुक जाने से *(खु)* वस्तुत: *(जीवो)* जीव *(मोक्खं)* मोक्ष को *(पप्पोदि)* प्राप्त करता है।

अर्थ- भावकर्म का निरोध होने पर निश्चित ही द्रव्यकर्म का निरोध होता है और दोनों के निरोध से ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्या- राग-द्वेषादि तो भावकर्म हैं ही, प्रत्येक कर्म भी द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का होता है। आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने गोम्मटसार (कर्मकांड) में कहा है-

कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गल-पिंडो दव्वं, तस्सत्ती भावकम्मं तु॥६॥

अर्थात् कर्मरूप से कर्म एक प्रकार का, तथा द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का है। पुद्गल पिंड को द्रव्यकर्म तथा उसकी शक्ति को भावकर्म कहते हैं। कर्म के आठ, एक सौ अड़तालिस व असंख्यात भेद होते हैं। घाति-अघाति की अपेक्षा भी दो भेद होते हैं।

शुभ-अशुभ कर्मों के उदय में राग-द्वेषादि नहीं करना तथा स्थिरता रखने से भावकर्मों का निरोध हो जाता है। भाव कर्मों का निरोध होने से शनैः-शनैः कर्मों के संवर रूप द्रव्य कर्मों का निरोध हो जाता है। द्रव्य व भाव कर्मों का पूर्णरूपेण निरोध (संवर) हो जाने से उदय में आते हुए कर्मों का साम्यभाव से फल भोगते हुए, उनकी निर्जरा करते हुए; जीव निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करता है। 'भावसंवरस्वरूपोऽहम्।'

प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करो

णयणुग्घाडे पावं, गमणे सयणे य भोयणे पावं।
मिच्चू सिरे य अत्थि, पयत्तचित्तो पवट्टेज्जा॥२०॥

अन्वयार्थ- (णयणुग्घाडे पावं) आँख खोलने में पाप है, *(गमणे सयणे य भोयणे पावं)* गमन में, शयन में तथा भोजन में पाप है [जबकि] *(मिच्चू सिरे य अत्थि)* मृत्यु सिर पर है [इसलिए] *(पयत्तचित्तो पवट्टेज्जा)* प्रयत्नचित्त होकर प्रवृत्ति करो।

अर्थ- आँख खोलने में, गमन में, शयन में व भोजन करने में भी पाप होता है; जबकि मृत्यु सिर पर मँडरा रही है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करो।

व्याख्या- आँख खोलने पर बाह्य वस्तुएँ देखने से चित्त चलायमान होने से पापास्रव होता है। गमन अर्थात् चलने- फिरने से भी पाप होता है, क्योंकि इससे जीवों का घात होता है तथा प्रवृत्ति इच्छापूर्वक होने से भी आस्रव होता है। शयन में व्यक्ति मूर्च्छित सा हो जाता है, किंतु उसकी भाव धारा चलती रहती है; शुभाशुभ भावों से आस्रव होता है। भोजन करने में भी यदि विवेक नहीं है तो पाप है, क्यों प्रथम तो भोजन की प्राप्ति के लिए ही आरंभ करना पड़ता है, फिर उसके रस में आसक्ति होने से आस्रव होता है।

ये कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं कि जिनके बिना मानव जीवन असंभव है। अतः यहाँ यह कहा जा रहा है कि आयु का भरोसा नहीं है, इसलिए पूरी सावधानी तथा विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करो, जिससे कर्मबंध न हो। 'अमरस्वरूपोऽहम्।'

आत्मा भावों का कर्त्ता है

रागादि भावाणं कत्ता आदा पुणो णिमित्तेण।
पुग्गलदव्वं पि सयं, परिणमदे कम्मभावेण॥२१॥

अन्वयार्थ- (आदा) आत्मा *(रागादि भावाणं)* रागादि भावों का कर्त्ता है *(पुणो)* पुनः [इस] *(णिमित्तेण)* निमित्त से *(पुग्गलदव्वं पि सयं)* पुद्गल द्रव्य भी कर्मरूप परिणमित होता है।

अर्थ- यह संसारी आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता है, इसके निमित्त से पुद्गल द्रव्य भी कर्मरूप परिणमित होता है।

व्याख्या- यह संसारी जीवात्मा अज्ञानवश राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता बना हुआ है। इन भावों के निमित्त से पुद्गलाणु भी कर्मरूप से परिणमन कर जाते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है-

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये।
स्वमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥१२॥

द्रव्यसंग्रह (८) में कहा है कि यह जीव व्यवहारनय से पुद्गल कर्मादि का कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि अशुद्धभावों का तथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावों का कर्त्ता है।

वस्तुतः यह जीव अज्ञान व अस्थिरतावश राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता होता है। जैसे-जैसे ज्ञान व स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे रागादि का अभाव होता जाता है। रागादि का अभाव होने पर पुद्गलाणु भी कर्मरूप परिणत नहीं होते। अतः रागादिभावों से बचो। 'रागादिभावरहित ज्ञानस्वरूपोऽहम्।'

रागादि भावों का त्याग करो

वेरग्गो बहिरादो, वट्टदि रागो दु अंतरे बहुलं।
भम्हाच्छाही अग्गिव, णाणी! णाऊण तं मुंच॥२२॥

अन्वयार्थ- (वेरग्गो बहिरादो) बाहर से वैराग्य है *(दु)* किंतु *(अंतरे बहुलं)* भीतर में बहुत *(रागो)* राग *(वट्टदि)* वर्तता है [तो यह] *(भम्हाछाही अग्गिव)* भस्माच्छादित अग्नि के समान *(णाणी)* हे ज्ञानी *(णाऊण)* जानकर *(तं मुंच)* उसे छोड़ो।

अर्थ- हे ज्ञानी! यदि बाहर से वैराग्य प्रकट किया जाता है; किंतु अंतर में बहुत राग वर्तता है; तो यह भस्माच्छादित अग्नि के समान हानिकारक है। अतः इसे जानकर छोड़ो।

व्याख्या- हे ज्ञानी! बाह्यवस्तुओं के त्याग तथा बाहिरी संयत चेष्टा से बाहर से तो वैराग्य झलकता है, तू अपने को वैरागी प्रदर्शित करता है, किंतु अंतरंग (भावों) में पर-सम्मेलन, पूजा-प्रतिष्ठा, धन-वैभव के प्रति बहुत राग विद्यमान है तो इसे भस्माछादित आग के समान समझो। यह आग कभी भी संपूर्ण संयम और बाह्य वैराग्य रूपी संपत्ति को जलाकर राख कर देगी। अतः इसे भलीप्रकार जानकर छोड़ दो। विशुद्ध अंतरंग-बहिरंग वैराग्य प्रगट करो। 'अंतःबाह्यवैराग्यसंपन्नोऽहम्।'

वैराग्य रहित कौन है

कोही माणी मायी, लोही रागी तहेव ईसालू।
रुद्दो खुद्दो दुट्ठो, जीवो वेरग्ग उम्मुक्को॥२३॥

अन्वयार्थ- (कोही माणी मायी लोही रागी) क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी *(रुद्दो खुद्दो दुट्ठो)* रुद्र, छुद्र व दुष्ट *(तहेव)* उसी प्रकार *(ईसालू)* ईर्ष्यालु *(जीवो)* जीव *(वेरग्ग उम्मुक्को)* वैराग्य से रहित है।

अर्थ- अत्यंत क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी, रुद्र, छुद्र, दुष्ट तथा ईर्ष्यालु जीव वैराग्य से रहित है।

व्याख्या- जिसमें अनंतानुबंधी कषाय विद्यमान है, ऐसा जीव स्वरूप बोध के बिना, आत्मज्ञान के अभाव में वैभाविक भावों से एकमेक होकर अत्यंत क्रोधी होता है। सबसे सम्मान चाहने वाला, किंतु ज्येष्ट गुणीजनों का भी सम्मान न करने वाला, ख्याति पूजा प्रतिष्ठा की तीव्र लालसा रखने वाला मानी है। छल-कपट करने वाला मायावी है। धन, पद, वैभव की तृष्णा रखने वाला लोभी है। स्त्री, धन, शिष्यादि में अतिस्नेह करने वाला रागी है। अत्यंत क्रूर कर्म करने/करवाने वाला रुद्र है। छोटी-छोटी सी बातों को लेकर विषाक्त वातावरण बनाने वाला छुद्र है। दूसरे के दोष ही देखने वाला, दूषित मन वाला दुष्ट है। किसी का उत्थान न देख सकने वाला, चुगलखोर, ईर्ष्यालु है। इन दोषों वाले जीव भेदविज्ञान रूप सम्यग्दर्शन के अभाव में यदि त्यागी-व्रती भी बन जाते है, तो भी वे वैराग्य से रहित हैं। इसलिए इन खोटे भावों का त्याग करो। 'क्रोधादि दुर्भावरहितोऽहम्।'

पुण्य-पाप दोनों संसार के कारण हैं

पुण्णमपुण्णं भावा, दोण्हं संसार कारणं अत्थि।
तम्हा य तं विमुत्ता, कमेण चिट्ठेज्ज सुद्धप्पे ॥२४॥

अन्वयार्थ- *(पुण्णमपुण्णं भावा)* पुण्य-अपुण्य भाव *(दोण्हं संसार कारणं अत्थि)* दोनों संसार के कारण हैं *(तम्हा)* इसलिए *(कमेण)* क्रम से *(तं)* उन्हें *(विमुत्ता)* अच्छी तरह छोड़कर *(सुद्धप्पे)* शुद्धात्मा में *(चिट्ठेज्ज)* चेष्टा करो।

अर्थ- पुण्य-अपुण्य भाव दोनों ही संसार के कारण हैं, इसलिए क्रम से उन्हें अच्छी तरह छोड़कर निज शुद्धात्मा में चेष्टा करो [रमो]।

व्याख्या- पुण्य अर्थात् शुभभाव (शुभकर्म) तथा अपुण्य अर्थात् पापभाव (अशुभकर्म) ये दोनों ही कर्म हैं तथा संसार में जीव को भ्रमाते हुए सुख-दुःख प्राप्त कराने वाले हैं। अतः इनमें से कोई भी अच्छा नहीं हैं। दोनों

ही सोने एवं लोहे के बेड़ी के समान बंधन कारक होने से त्याज्य हैं। जैसा कि आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा है-

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥१४६॥

वस्तुतः पुण्य व पाप दोनों ही त्याज्य हैं, फिर भी प्रथम क्रम में पापकर्म का बुद्धिपूर्वक त्याग तथा व्रत-नियमों का पालन किया ही जाता है। भेदविज्ञान होने पर आत्मानुभव के काल में पुण्यकर्म का भी संवर हो जाता है। यह जीव आत्मानुभव रूप स्थिरता बढ़ने पर पुण्यकर्मों का भी त्याग करता हुआ मुक्तदशा को उपलब्ध होता है। शुद्धात्मा में रमण करने की चेष्टा करने पर यह स्थिति प्राप्त होती है।

अशुभकर्मों से बचने के लिए यह जीव अस्थिरता के काल में पुण्यवर्धक देवपूजा गुरुउपासना, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ करता तो अवश्य है, पर उन्हें सर्वथा उपादेय नहीं मानता, शुद्धात्मा में रमण को ही उपादेय मानता है। 'पुण्य-पापरहितोऽहम्।'

बंधुता कब तक रहती है

जावं अप्पडिणीयं, कज्जं सिज्झंति बहुविहं विविहं।
तावं हि बंधुभावो, पच्छा को बंधू को मित्तं॥२५॥

अन्वयार्थ- (जावं) जब तक *(अप्पडिणीयं)* अप्रतिकूलता है *(बहुविहं विविहं)* बहुत प्रकार के विविध *(कज्जं सिज्झंति)* कार्य सिद्ध होते हैं *(तावं)* तब तक *(हि)* ही *(बंधुभावो)* बंधुभाव है *(पच्छा)* पश्चात *(को बंधू को मित्तं)* कौन बंधु है? कौन मित्र है?

अर्थ- जब तक अप्रतिकूलता है तथा बहुत प्रकार के विविध कार्य सिद्ध होते हैं, तब तक ही बंधुभाव है, अन्यथा कौन किसका बंधु या मित्र है?

व्याख्या- जब तक आपस में किसी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं होती है अर्थात् सब प्रकार से मन मिलता है अथवा जब तक बहुत प्रकार के विविध कार्य सिद्ध होते हैं,तब तक ही बंधुभाव अर्थात कौटुंबिक संबंध तथा

मित्रभाव होता है। अन्यथा कौन किसका बंधु है और कौन किसका मित्र? धन नहीं कमाने वाले बेटे को माँ-बाप भी स्नेह नहीं करते अन्य संबंधों का तो कहना ही क्या? संसार के सारे सम्बंध स्वार्थ के कंधों पर चलते हैं। इसलिए संसार के संबंधों में मत उलझो। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में कहा है-

संजोग मूलं जीवेण, पत्तं णंत परंपरं।
तम्हा संयोग संबंधं, सव्वं तिविहेण वोसरे॥४९॥

अर्थात् संयोग- संबंध दुःख के मूल हेतु हैं, संसार की अनंत परंपरा को करने वाले हैं, इसलिए संयोग-संबंधों को मन वचन काय से छोड़ो। एकत्व-विभक्त निज आत्मा का चिंतन करो। 'संयोग संबंध शून्योऽहम्।'

आयु व देह निरंतर क्षीण हो रही है

हीणदि आऊ णिच्चं, खीणदि देहो य इंदिया णिच्चं।
मोही हवेदि मूढो, णाणी णाणेण सिज्झेदि॥२६॥

अन्वयार्थ- (आऊ णिच्चं) आयु निरंतर *(हीणदि)* कम होती है *(देहो य इंदिया)* देह व इंद्रियाँ *(णिच्चं)* निरंतर *(खीणदि)* क्षीण होती हैं, [ऐसे में] *(मूढो)* मूढ *(मोही हवेदि)* मोही होता है [जबकि] *(णाणी णाणेण सिज्झेदि)* ज्ञानी ज्ञानसे सिद्ध होता है।

अर्थ- आयु निरंतर कम होती जा रही है, देह व इंद्रियाँ निरंतर क्षीण होती जा रहीं हैं। ऐसे में मोही मूढ़ होता है, जबकि ज्ञानी ज्ञानसे सिद्ध होता है।

व्याख्या-आयुकर्म के उदय से इस देह धारी को जितनी आयु प्राप्त हुई है, वह निरंतर कम होती जा रही है। शरीर व इंद्रियाँ भी एक अवस्था तक पुष्ट होती हैं, फिर वे भी क्षीण होने लगती हैं। आत्मा तो वह का वही रहता है। ऐसे में अज्ञानी मोही प्राणी मूढ़ बना रहता है अर्थात् कुछ भी आत्महित का विचार नहीं करता; जबकि ज्ञानीजन निज ज्ञानसे मोक्ष की साधना कर सिद्ध तक हो जाते हैं। 'इंद्रियायुरहित ज्ञानस्वरूपोऽहम्।'

निज आत्मा ही परमात्मा है

णिय अप्पा परमप्पा, अप्पा अप्पम्मि अत्थि संपुण्णं।
तो किं गच्छदि बहिरं, अप्पा अप्पम्मि सव्वदा झेयो॥२७॥

अन्वयार्थ- (णिय अप्पा परमप्पा) निज आत्मा परमात्मा है *(अप्पा अप्पम्मि अत्थि संपुण्णं)* आत्मा आत्मा में संपूर्ण है *(तो किं गच्छदि बहिरं)* तो [तू] बाहर क्यों जाता है *(अप्पा अप्पम्मि सव्वदा झेयो)* आत्मा आत्मा में सर्वदा ध्येय है।

अर्थ- निज आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा अपने आप में संपूर्ण है; तो फिर तुम बाहर क्यों जाते हो, आत्मा में आत्मा का हमेशा ध्यान करो।

व्याख्या-संसार की प्रत्येक आत्मा बीजभूत परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा ध्रौव्यात्मक निज द्रव्य की अपेक्षा अपने अनंत गुणों से परिपूर्ण है। किंतु अपने स्वरूप से विचलित होने के कारण संसार दशा में वह कर्मोदय से उत्पन्न अपूर्ण-दशा का भोग कर रहा है, जो कि स्वभाव नहीं है।

हे जीव! तुम बाह्य-दृष्टि क्यों करते हो! अंतर्दृष्टि करो और अपने अनंत वैभव को प्राप्त करने के लिए आत्मा से आत्मा में ही सर्वदा निवास करो, निज शुद्धात्मा का ध्यान करो।

पर अपना नहीं होता

णत्थि परो अप्पुत्तं, णिय अप्पा वि परस्स णत्थित्ति।
ण वि होहिदि ण वि आसी, तम्हा मुंचेह परभावं॥२८॥

अन्वयार्थ- (परो) पर-पदार्थ *(अप्पुत्तं)* अपना *(णत्थि)* नहीं है *(णिय अप्पा वि परस्स णत्थित्ति)* निज आत्मा भी पर नहीं है *(ण वि होहिदि)* न होगा *(ण वि आसी)* न था *(तम्हा)* इसलिए *(परभावं)* परभावों को *(मुंचेह)* छोड़ो।

अर्थ- कोई भी पर-पदार्थ आत्मा का नहीं है, आत्मा भी पर का नहीं है, न होगा और न ही था। इसलिए पर-वस्तुओं में आत्मबुद्धि का त्याग करो।

व्याख्या-विश्व में छह द्रव्य हैं। सबकी स्वतंत्र सत्ता है। एकमेक होकर भी वे अपने-अपने स्वाभव को नहीं छोड़ते हैं। आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय ग्रंथ में कहा है-

अण्णोणं पविसंता दिंता ओगास-मण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं, सग-सग भावं ण विजहंति॥७॥

वस्तुतः जब कोई भी वस्तु बदलकर अन्यवस्तु रूप नहीं हो जाती है, तब कोई अन्य पदार्थ इस जीव का न था, न ही है और न भविष्य में होगा ही। इसलिए हे आत्मन्! पर वस्तुओं में एकत्वबुद्धि का त्याग करो। 'एकत्वस्वरूपोऽहम्।'

वस्तुतः सभी जीव निर्दोष हैं

सव्वे वि णिद्दोसा, जीवा अत्थि अणंत गुणजुत्ता।
किण्णु य कम्मवसेहिं, कुणंति मोहेण कम्माणं॥२९॥

अन्वयार्थ- (हि) वस्तुतः *(सव्वे)* सभी *(जीवा)* जीव *(णिद्दोसा)* निर्दोष हैं *(य)* और *(अणंत गुणजुत्ता अत्थि)* अनंत गुण युक्त हैं *(किण्णु)* किंतु *(कम्मवसेहिं)* कर्मों के वश से *(मोहेण)* मोह से *(कम्माणं)* कर्मों को *(कुणंति)* करते हैं।

अर्थ- वस्तुतः सभी जीव निर्दोष हैं और अनंतगुण युक्त हैं, किंतु कर्मों के वशवर्ती होकर मोह से नए कर्म करते हैं।

व्याख्या- शुद्ध निश्चय से एकेन्द्रियादि समस्त जीव निर्दोष व अनंत गुण वाले हैं, किंतु कर्मों की अनादि संतति के वशवर्ती होकर मोह (मिथ्यात्व) से अनेक तरह के कर्म करते हैं एवं उनका फल भोगते हैं। स्व-स्वरूप के बोध बिना यह जीव उसी प्रकार दुःखी है, जिस प्रकार किसी के पास चिंतामणि रत्न हो और वह अज्ञानतावश भीख मांगता फिरे। 'निर्दोषोऽहम्।'

क्रोधादि भाव आत्मा के शत्रु हैं

कोहादि जे भावा, परस्स किंवि य करेदि णो घादं।
आदस्स चेव सत्तू, णत्ता मुंचेह सण्णाणी! ॥३०॥

अन्वयार्थ- (सण्णाणी) हे संज्ञानिन्! *(जे)* जो *(कोहादि भावा)* क्रोधादि भाव हैं [वे] *(परस्स)* पर वस्तु का *(किंवि)* कुछ भी *(घादं)* घात *(णो करेदि)* नहीं करते *(य)* किंतु *(आदस्स चेव सत्तू)* आत्मा के ही शत्रु हैं [ऐसा] *(णत्ता)* जानकर [इन्हें] *(मुंचेह)* छोड़ो।

अर्थ- हे सम्यग्ज्ञानी! जो क्रोधादि भाव हैं, वे परपदार्थों का कुछ भी घात नहीं करते अपितु आत्मा के ही शत्रु हैं, ऐसा जानकर उन्हें छोड़ दो।

व्याख्या- हे सम्यग्ज्ञानधारी महानुभाव! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद आदि के जो भी भाव हैं, वे सभी आत्मा के ही विभाव परिणाम हैं, जो कि कर्मों से उत्पन्न हुए हैं।

वस्तुतः ये जीव के शुद्धभाव नहीं हैं, किंतु इन्हें अपना मानता हुआ यह जीव नए-नए कर्मों का आस्रव-बंध करता हुआ, निज का ही घात करता है। परवस्तु यदि अचेतन है, तब तो यह उसका कुछ भी नहीं कर सकता; किंतु यदि चेतन है तो भी उसका बिगाड़ या सुधार उसके भावों से होगा। यह जीव तो सिर्फ निमित्त बनेगा। इसलिए इन विभावभावों को आत्मा का अहितकारी जानकर छोड़ देना चाहिए। 'कोधादिवर्जितोऽहम्'।

आस्रव अशुभ व दुःखदायी है

आसवो अत्थि असुहं अथिरं दुक्खस्सहेदू पोग्गलियं।
आदा तव्विवरीओ णादा-दिट्ठा य सुहजुत्तो ॥३१॥

अन्वयार्थ- (आसवो) आस्रव *(असुहं अथिरं दुक्खस्सहेदू पोग्गलियं अत्थि)* अशुभ, अस्थिर, दुःख का हेतु व पौद्गलिक है *(आदा तव्विवरीयो)* आत्मा उससे विपरीत *(णादा-दिट्ठा य सुहजुत्तो) ज्ञाता-दृष्टा व सुखयुक्त है।*

अर्थ- आस्रव अशुभ, अस्थिर, दुःख का कारण व पौद्गलिक है, जबकि जीव उससे विपरीत तथा ज्ञाता-दृष्टा व सुखादि गुणों से संयुक्त है।

व्याख्या- जब तक यह जीव आत्मा व आस्रवों में भेद नहीं जानता, तब तक अज्ञानी होता हुआ क्रोधादि में प्रवर्तकर कर्मों का आस्रव करता है।

जब इसे आस्रव व आत्मा में भेद ज्ञात होता है, तब आस्रव-बंध नहीं होता है। (समयसार गाथा ६९-७२ का भाव)

अत: यह जानना परम आवश्यक है कि कर्मास्रव अशुभ अमंगलकारी,अस्थिर अर्थात् नाशवान, दुख का कारण व स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाला पौद्गलिक है। जबकि आत्मा इससे विपरीत शुभ अर्थात् मंगलमय, स्थिर अर्थात् शाश्वत, चैतन्यमय, ज्ञाता-दृष्टा तथा सुख आदि अनंतगुणों का गोदाम है। इसलिए आस्रवों से बचो व आत्मस्वभाव में रचो-पचो। 'आस्रवरहितचैतन्यस्वरूपोऽहम्।'

दोषी पर भी क्रोध मत करो

जस्स असुह-भवितव्वं, तेहिंतो होदि दुक्कडं बहुगं।
तेसिं मा कुण कोहं, कम्मेहि दु पेरिदं किच्चं ॥३२॥

अन्वयार्थ- (जस्स) जिसका *(असुह भवितव्वं)* अशुभ भवितव्य है *(तेहिंतो)* उससे *(बहुगं)* बहुत *(दुक्कडं)* दुष्कृत *(होदि)* होते हैं *(तेसिं)* उनपर *(कोहं)* क्रोध *(मा)* मत *(कुण)* करो *(दु)* क्योंकि *(कम्मेहि)* कर्मों से *(पेरिदं)* प्रेरित *(किच्चं)* कृत्य हैं।

अर्थ- जिसकी होनहार बुरी है, उससे बहुत दुष्कृत्य होते हैं, उन पर क्रोध मत करो; क्योंकि उसके वे कर्मों से प्रेरित कृत्य हैं।

व्याख्या- जब किसी जीव पर क्रोध आता है, तब ज्ञानीजन उसकी दुष्चेष्टाओं पर इस प्रकार विचार करते हैं कि प्रत्येक जीव तो वस्तुत: निर्दोष है किंतु जिसकी भवितव्यता खराब है; उनसे इच्छा/अनिच्छा पूर्वक दुष्कृत्य हो ही जाते हैं, क्योंकि ये उसके कर्म द्वारा प्रेरित कृत्य हैं। इसलिए किसी जीव पर क्रोध मत करो। कषायभाव करके पहले ही वह दु:खी होता हुआ नए कर्मबंध कर रहा है, तब तुम कषाय करके अपना तथा दंड देने- दिलाने रूप उसका अहित क्यों करते हो। यदि ज्यादा ही किसी का अहित या ईर्ष्या करने का प्रंसग आता है तो यह अज्ञान का उदय है, तब यह विचारो-

बुरा जो मैं देखन चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो हिय खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

जिसकी होनहार भली है

भवितव्वं जस्स सुहं, तेहिंतो होदि सुक्कडं बहुगं।
सुही जणाणं संगं, धरेदि सच्चं च सो धम्मं॥३३॥

अन्वयार्थ- (जस्स) जिसका *(भवितव्वं)* भवितव्य *(सुहं)* शुभ है *(तेहिंतो)* उससे *(सुक्कडं)* सुकृत *(बहुगं)* बहुत *(होदि)* होते हैं *(सो)* वह *(सुहीजणाणं संगं)* सुधीजनों की संगति *(सच्चं)* सत्य *(च)* और *(धम्मं)* धर्म को *(धरेदि)* धारता है।

अर्थ- जिसकी होनहार अच्छी है, उससे बहुत सुकृत होते हैं। वह सुधीजनों की संगति, सत्य और धर्म को धारण करता है।

व्याख्या- जब किसी धर्मात्मा जीव पर भी अत्यधिक वात्सल्य उमड़े तब ऐसा विचार करना चाहिए कि जिसकी होनहार अच्छी है, उस जीव से बहुत सुकृत्य होते ही हैं। ऐसा जीव सज्जनों की संगति, सत्यादि गुण तथा आत्मानुभवरूप धर्म को धारण करता ही है। 'भव्याभव्यभावशून्योऽहम्'।

कर्मोदय में मोही मोहित होते हैं

कम्म य णोकम्मस्स दु परिणदी दट्ठूण सुहासुहं विविहं।
मोही मुज्झदि णिच्चं, सण्णाणी ण मुज्झदि कदा वि॥३४॥

अन्वयार्थ- (कम्म य णोकम्मस्स) कर्म व नोकर्म की *(सुहासुहं विविहं)* शुभाशुभ विविध *(परिणदी)* परिणतियाँ *(दट्ठूण)* देखकर *(मोही)* मोही जीव *(णिच्चं)* सदा *(मुज्झदि)* मोहित होता है *(दु)* किंतु *(सण्णाणी)* सम्यग्ज्ञानी *(कदावि)* कभी भी *(ण मुज्झदि)* मोहित नहीं होता है।

अर्थ- कर्म व नोकर्म की शुभाशुभ विविध परिणतियाँ देखकर मोहीजीव नित्य ही मोहित होता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी कभी भी मोहित नहीं होता है।

व्याख्या- अज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि कर्म व औदारिकशरीरादि नोकर्मों की शुभ-अशुभ उदयादि विविध परिणतियों को देखकर उनमें अहं व मम बुद्धि होने के कारण नित्य ही मोहित होता हुआ नए-नए कर्मों का आसव-बंध करता है। जबकि ज्ञानी ज्ञान के बल से वस्तु स्थिति को जानता हुआ कर्म-नोकर्म की विविध दशाओं में मोहित नहीं होता है। इस कारण आसव-बंध भी नहीं करता हुआ कालांतर में सिद्धावस्था को पा लेता है।

जड़ जड़ है, चेतन चेतन

जडवत्थू य जडत्तं,चेदा चेयणत्तं ण मुयदि कदा।
इणं भेदविण्णाणं, किच्चा चिट्ठेह णियरूवे ॥३५॥

अन्वयार्थ- (जडवत्थू जडत्तं) जड़वस्तु जड़ता को *(य)* तथा *(चेदा चेयणत्तं)* चेतन वस्तु चेतनत्व को *(कदा)* कभी *(ण मुयदि)* नहीं छोड़ती *(इणं भेदविण्णाणं किच्चा)* यह भेदविज्ञान करके *(णियरूवे)* निजरूप में *(चिट्ठेह)* बैठो।

अर्थ- जड़वस्तु जड़ता को व चेतनवस्तु चेतनता को कभी नहीं छोड़ती है, यह भेदविज्ञान करके निजात्मस्वरूप में चेष्टा करो।

व्याख्या- प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाए जाते हैं- १. सामान्यगुण, २. विशेष गुण।

१. सामान्य गुण- जो गुण सभी द्रव्यों में समान रूप से पाए जाते हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं। ये मुख्यतः छह हैं। यथा-

(१) अस्तित्व गुण- के कारण द्रव्य सदा अस्तित्व (सत्ता) में रहता है।
(२) वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य में प्रयोजनभूत क्रिया होती है।
(३) द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरंतर बदलती हैं।
(४) प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का ज्ञेय जरूर बनता है। विश्व में ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जो किसी ज्ञान का ज्ञेय न बनता हो।
(५) अगुरुलघुत्वगुण के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता तथा बिखर कर छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता।

(६) प्रदेशत्वगुण के कारण द्रव्य का कोई आकार अवश्य रहता है।
२. विशेष गुण- जो विवक्षित द्रव्य में ही पाए जाते हैं, अन्य में नहीं। जैसे- ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण जीव में ही पाए जाते हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पुद्गल में ही पाए जाते हैं। गति हेतुत्व गुण धर्म द्रव्य में, स्थिति हेतुत्व गुण अधर्म द्रव्य में, अवगाहन हेतुत्व गुण आकाश द्रव्य में तथा वर्तना हेतुत्व गुण काल द्रव्य में ही होता है, अन्य द्रव्यों में नहीं।

जीव में चेतनत्व गुण है, इसलिए वह चेतन है। शेष सभी द्रव्य अचेतन (जड़) हैं। यह उनके विशेष गुण हैं, अतः अपने-अपने में ही रहते हैं; एक-दूसरे में नहीं मिल जाते हैं। ऐसा भेदविज्ञान करके निज चैतन्यद्रव्य में ही तल्लीन होना चाहिए, जिससे सिद्धत्व की उपलब्धि हो।

गुणों के समूह को अथवा गुण-पर्यायवान को द्रव्य कहते हैं। वस्तु, तत्त्व, सत्, सत्ता, अर्थ, पदार्थ, अन्वय, प्रमेय आदि द्रव्य के दूसरे नाम हैं। प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त, स्वतः सिद्ध हैं, अतः द्रव्यों तथा लोक का कोई कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नही है। प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण शाश्वत् सिद्ध हैं, वे हीनाधिक या परिवर्तित नही किए जा सकते हैं। एक गुण या एक पर्याय को नहीं, अपितु अनंत गुण वाली तथा प्रतिसमय परिणमन शील वस्तु को द्रव्य कहते हैं। ऐसा जानकर अपने जीव द्रव्य की महिमा का विचार करना चाहिए। 'चैतन्यज्योतिस्वरूपोऽहम्'।

ज्ञानी की पहचान

लघुणिद्दामिदवयणं, वदं च णिच्चं धरेज्ज सण्णाणं।
अकसायं सुहवित्तिं, णिस्संगं णाणिस्सिणं चिण्हा॥३६॥

अन्वयार्थ- (लघुणिद्दामिदवयणं) थोड़ी निद्रा, मित वचन *(वदं)* व्रत *(सण्णाणं)* सम्यग्ज्ञान *(अकसायं)* अकषाय *(सुहवित्तिं)* शुभवृत्ति *(च)* और *(णिस्संगं)* निस्संगता *(णिच्चं)* नित्य *(धरेज्ज)* धारण करना *(इणं)* ये *(णाणिस्स)* ज्ञानी के *(चिण्हा)* चिह्न हैं।

अर्थ- थोड़ी निद्रा लेना, मितवचन, सम्यग्ज्ञान, व्रत, अकषायभाव, शुभवृत्ति व निस्संगता नित्य धारण करना ये ज्ञानी के चिह्न हैं।

व्याख्या- अल्पनिद्रा लेना, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, व्रतधारी होना, सम्यग्ज्ञानी होना, अकषायवान अथवा मंदकषायी होना, शुभ प्रवृत्ति करना व नित्य ही अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के त्याग रूप निस्संगता धारण करना, ये ज्ञानी-जनों की बाहिरी पहचान है। इनमें से जिसमें एक भी गुण नही है, वह मोक्षमार्गी नहीं है। उपरोक्त गुणों से युक्त ज्ञानी कर्मों के फल को भोगता हुआ भी वैराग्यवश नए कर्मों का आस्रव-बंध नही करता, क्योंकि ज्ञानियों के पापकर्मों का उदय तो होता है, पर पापभावों का नहीं। 'सम्यग्ज्ञानस्वरूपोऽहम्'।

भेदज्ञान की महिमा

अज्जावं जित्तियं जे, पत्तं संसार-सायरं तीरं।
चडिऊण भेदणाणे-णावे मोत्तूण सव्वुवहिं॥३७॥

अन्वयार्थ- (अज्जावं) आज तक *(जित्तियं)* जितने *(जे)* जो जीव *(संसार-सायरं तीरं)* संसार सागर के तीर को *(पत्तं)* प्राप्त हुए हैं [वे] *(सव्वुवहिं)* सभी उपाधियों को *(मोत्तूण)* छोड़कर *(भेदणाणे-णावे)* भेदज्ञानरूपी नाव पर *(चडिऊण)* चढ़कर हुए हैं।

अर्थ- आज तक जितने व जो भी जीव संसार-सागर के पार को प्राप्त हुए हैं, वे सभी उपाधियों को छोड़कर भेदज्ञानरूपी नाव पर चढ़कर हुए हैं।

व्याख्या- अंतरंग व बहिरंग समस्त औपाधिक भावों को छोड़कर तथा भेदविज्ञान रूपी नौका पर चढ़कर ही अनंत जीवात्माएँ सिद्धदशा को प्राप्त हुई हैं, जैसा कि आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार कलश में कहा है-

भेद विज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धः, बद्धाः ये किल केचन॥

आत्मा का स्वरूप

णिग्गंधो णिव्वण्णो, णिप्फासो णीरसो अवत्तव्वो।
चेदणगुण-संजुत्तो, णिम्मोहो णिक्कलो अप्पा॥३८॥

अन्वयार्थ- (अप्पा) आत्मा *(णिग्गंधो णिव्वण्णो णिप्फासो णीरसो अवत्तव्वो चेदणगुण-संजुत्तो णिम्मोहो णिक्कलो)* गंधरहित, वर्ण रहित, स्पर्श रहित, रस रहित, अवक्तव्य,चेतनगुण युक्त, निर्मोह व निष्कल है।

अर्थ- आत्मा गंधरहित, वर्ण रहित, स्पर्श रहित, रस रहित, अवक्तव्य, चेतनगुण युक्त, मोह रहित तथा शरीर रहित है।

व्याख्या- पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (९) में आचार्य अमृतचंद्र ने आत्मा को चैतन्यगुण युक्त, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित, गुण-पर्याय युक्त तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य संयुक्त कहा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने समयसार (४९ से ५५) में उपरोक्त विषय पर खुलकर लिखा है, जो टीका सहित मूलतः पठनीय है।

स्पर्श, रस, गंध व वर्ण ये पुद्गल के गुण हैं, किंतु संसारी दशा में कर्म-बद्ध होने से वह शरीरादि को धारण करने वाले जीव के दिखते हैं। वस्तुतः जीव इनसे रहित चैतन्य द्रव्य है। 'स्पर्शरसगंधवर्णादिरहितोऽहम्'।

आत्मा में हास्यादि नहीं हैं

रागो दोसो मोहो ण वि हासो णेव विज्जदे जोगो।
ण दु कम्मं णोकम्मं, आदे णाणादि अत्थि त्ति॥३९॥

अन्वयार्थ- (आदे) आत्मा में *(ण वि रागो दोसो मोहो)* राग द्वेष मोह नहीं है *(हासो णेव विज्जदे जोगो)* हास्य व योग विद्यमान नहीं है *(ण कम्मं णोकम्मं)* न कर्म नोकर्म हैं *(दु)* किंतु *(णाणादि अत्थि त्ति)* ज्ञानादि हैं।

अर्थ- आत्मा में राग-द्वेष, मोह, हास्य, योग, कर्म, नोकर्म आदि विद्यमान नहीं हैं; किंतु ज्ञानादि गुण हैं।

व्याख्या- यह चैतन्य आत्मा राग-द्वेष, मोह, हास्यादि नोकषाय, ज्ञानावरणादिकर्म तथा शरीरादि नोकर्म से रहित है। वस्तुतः ये आत्मा में नहीं हैं, किंतु यह सभी कर्मकृत हैं। जीव का स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन आदि अनंतगुणों को धारण करना है। समयसार (३८-४३) में इसे विशेष रूप से पढ़ें। 'रागद्वेष-कर्मनोकर्मादिभावशून्योऽहम्'।

पानी पीने से सरल है आत्मानुभव

पाणी पाणाहिंतो, अदिसरलं णिय सहाव-अणुहवणं।
किण्णु णियं ण जाणदि, णिरत्थयं काल खेवेदि॥४०॥

अन्वयार्थ- (पाणी पाणाहिंतो) पानी पीने से *(अदिसरलं णिय सहाव-अणुहवणं)* अतिसरल निज-स्वभावानुभव है *(किण्णु णियं ण जाणदि)* किंतु निजको नहीं जानता [इसलिए] *(णिरत्थयं काल खेवेदि)* निरर्थक काल-क्षेप करता है।

अर्थ- पानी पीने से भी सरल निज आत्मा का अनुभव है; किन्तु निज को न जानने से यह जीव व्यर्थ समय गंवाता है।

व्याख्या- निज आत्मा निजद्रव्य है, स्वयं तू ही है, वह कहीं बाहर से नहीं लाना है; इसलिए राग-द्वेषादि विभावों से रहित निज शुद्धात्म-तत्त्व का अनुभव करना पानी पीने से भी सरल है, क्योंकि यदि पानी पीना है, तो भरना, छानना, बर्तन मुँह तक ले जाना आदि अनेक श्रम करना पड़ते हैं, जबकि आत्मानुभव में तो "मैं यह राग-द्वेषादि सकल विभावों से रहित ज्ञान-दर्शनादि गुणों वाला चैतन्य आत्मा हूँ" इस प्रकार की तल्लीनता मात्र चाहिए। किंतु वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान न होने से यह जीव व्यर्थ में कालक्षेप अर्थात् समय की बर्बादी करता है। 'निजानुभवसंपन्नोऽहम्'।

आत्मा निजस्वरूप से तो प्रगट ही है

णिच्चं हि णेंति जीवा, णियल्लरूवस्स पयडिदं सादं।
णादूण णेंति णाणी, मोही मोहेण बिब्भंति॥४१॥

अन्वयार्थ- (हि) वस्तुतः *(जीवा)* जीव *(णियल्लरूवस्स पयडिदं सादं)* निजस्वरूप के प्रकटित स्वाद को *(णिच्चं)* हमेशा *(णेंति)* लेते हैं, *(णाणी णादूण णेंति)* ज्ञानी जानकर लेते हैं [जबकि] *(मोहेण मोही बिब्भंति)* मोह से मोही भ्रमित होते हैं।

अर्थ- वस्तुतः सभी जीव निजस्वरूप के प्रगटित स्वाद को हमेशा लेते हैं, ज्ञानी जानकर लेते हैं, जबकि मोहीजन मोह से भटकते हैं।

व्याख्या- संसार के समस्त जीव वस्तुतः जितने अंशों में उनके ज्ञान का

क्षयोपशम है, उतने अंशों में प्रगट हुए निजस्वरूप के स्वाद को ही हमेशा लेते हैं। जीव का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है। संसार का ऐसा कोई जीव नहीं है जिसमें ज्ञान न हो; प्रत्येक जीव को कम से कम अक्षर का अनंतवाँ भाग ज्ञान तो रहेगा ही, जो कि हमेशा निरावरण ही रहता है। जैसा कि गोम्मटसार जीवकांड में कहा है-

सुहुम णिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढम समयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं, णिच्चुग्घाडं णिरावरणं॥३१९॥

अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्तक जीव को उत्पत्ति के प्रथम समय में नित्योद्घाटित निरावरण सबसे कम ज्ञान होता है।

यदि कभी किसी जीव के ज्ञान का अभाव मान लिया जाए तो जीव का भी अभाव मानना पड़ेगा। अमृतचंद्रसूरि ने समयसार कलश में कहा है-

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं, ज्ञानी जनोऽनुभवती स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृंभतोऽयं, मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति॥

अर्थात् जीव और अजीव लक्षण से विभिन्न हैं, ऐसा ज्ञानीजन अतंरंग में उल्लसित होते हुए अनुभव करते हैं, बड़े आश्चर्य की बात है कि अज्ञानी अर्मादित मोह के वश संसार में ही नृत्य करते हैं।

जीव अपने ज्ञान से पदार्थों को जानता है। ज्ञानी ज्ञान व ज्ञेय को पृथक् मानने से आत्मानुभव करते हैं, जबकि अज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय में एकत्वकर मोहवश दुःखी होते हैं। 'भेदविज्ञानसंपन्नोऽहम्'।

ज्ञानी आत्मानुव कर मोक्ष पाते हैं

णाणी करेंति णिच्चं, णाणसरूवस्स सुहरसं पाणं।
स-पर भेद णाणेण य सिग्घं पावेंति णिव्वाणं॥४२॥

अन्वयार्थ- (णाणी) ज्ञानी *(णिच्चं)* नित्य *(णाणसरूवस्स सुहरसं पाणं)* ज्ञानस्वरूप सुखरस का पान *(करेंति)* करते हैं *(य)* तथा *(स-पर भेद णाणेण)* स्व-पर भेद विज्ञान से *(सिग्घं)* शीघ्र *(णिव्वाणं)* निर्वाण *(पावेंति)* पाते हैं।

अर्थ- ज्ञानीजन नित्य ही ज्ञानस्वरूप निजसुखरस पान करते हैं तथा स्व-पर भेदज्ञान की दृढ़ता से शीघ्र निर्वाण पाते हैं।

व्याख्या- ज्ञान जीव का स्वभाव है। ज्ञेयों को जानना ज्ञान का स्वभाव है, किंतु ज्ञेयों में एकत्व करना यह मोह का कार्य है। जब जीव मोह व ज्ञान को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है, तब अपने ज्ञानमय सुख स्वभाव में लीन होता हुआ स्व-पर भेद विज्ञान की दृढ़ता से थोड़े समय में ही मोक्ष पा लेते हैं। 'ज्ञायकस्वरूपोऽहम्'।

मोही मोहित होते हैं

जीवो पुग्गलवत्थुं फासदि जिग्घदि रसेदि पस्सेदि य।
मोही मुज्झदि अस्सिं, अप्पसरूवं सगीय विसरित्ता॥४३॥

अन्वयार्थ- (जीवो) जीव *(पुग्गलवत्थुं)* पुद्गलवस्तु को *(फासदि जिग्घदि रसेदि पस्सेदि य)* स्पर्श करता है, सूंघता है, रस लेता है, व देखता है *(तम्हा)* इसलिए *(सगीय अप्पसरूवं विसरित्ता)* स्वकीय आत्मस्वरूप को भूलकर *(अस्सिं मुज्झदि)* इसमें ही मोहित होता है।

अर्थ- जीव पुद्गल वस्तु को स्पर्श करता है, सूंघता है रस लेता है तथा देखता है, इसलिए आत्मस्वरूप को भूलकर इसमें ही मोहित होता है।

व्याख्या- यह जीव अपने ज्ञान गुण से पौद्गलिक स्थूल वस्तुओं के स्पर्शादि में सुख गुण से सुख-दुःख रूप वेदन करता हुआ, अपने अमूर्तस्वरूप को कुछ नहीं समझता हुआ, अपने से पृथक् बाह्य वस्तुओं में ही मोहित होता हुआ दुःखी होता है। जबकि यह अज्ञानता है। 'सुज्ञानसंपन्नोऽहम्'।

समभाव के बिना सब कुछ निरर्थक

झाणज्झयणं च तहा, वणवासं तवं चाग-उवगारं।
जदि णत्थि समभावो, तो सव्वं उच्छफुल्ल समं॥४४॥

अन्वयार्थ- (जदि णत्थि समभावो) यदि समभाव नहीं है *(तो)* तो *(झाणज्झयणं)* ध्यान-ध्ययन *(वणवासं तवं चाग उवगारं च)* वनवास तप त्याग व उपकार *(सव्वं उच्छफुल्ल समं)* सब ईख के फूल के समान है।

अर्थ- यदि समभाव नहीं है तो ध्यान-अध्ययन, वनवास, तप-त्याग तथा उपकार आदि सब कुछ ईख के फूल के समान है।

व्याख्या- वस्तु स्वभाव को समझे बिना सम्यक् समता नहीं आ सकती है। समताभाव के बिना ध्यान-अध्ययन, वनवास, तप-त्याग तथा उपकार आदि सब कुछ उसी प्रकार निरर्थक है, जिस प्रकार ईख (गन्ने) का फल। फूल तो होता है पर काम कुछ भी नहीं आता। 'सार्थकोऽहम्'।

कैसा समभावी निर्वाण पाता है

सत्तुं-मित्तं च तहा, वणं च भवणं च जीविदं मरणं।
कणयं लोट्ठं च समं, जो जाणेदि सो य णिव्वादि॥४५॥

अन्वयार्थ- *(सत्तुं-मित्तं च)* शत्रु और मित्र को *(वणं च भवणं)* वन और भवन को *(जीविदं च मरणं)* जीवन और मरण को *(तहा)* तथा *(कणयं च लोट्ठं)* सोना और पत्थर को *(जो)* जो *(समं जाणेदि)* समान जानता है *(सो य णिव्वादि)* वह ही निर्वाण पाता है।

अर्थ- जो शत्रु और मित्र को, वन और भवन को, जीवन और मरण को, कनक और पत्थर को समान जानता है, वह ही निर्वाण पाता है।

व्याख्या- वस्तु-स्वभाव का सम्यक् बोध होने से जिसे सम्यक् चारित्र प्रगट हुआ है, ऐसा महान योगी प्रत्येक परिस्थिति में स्थिरता धारण करता है और वह ही निर्वाण का भागी होता है। इस प्रकार की गाथा प्रवचनसार में आई है-

सम सत्तु-बंधुवग्गो, सम सुह-दुक्खो, पसंस-णिंद समो।
सम लोट्ठ-कंचणो पुण, जीविद-मरणे समो समणो॥२४०॥

समता ही सब कुछ है

समदा चिय सण्णाणं, समदा हि अत्थि धणं च सज्झाणं।
समदा वद-चारित्तं, समदादो सिज्झदि जीवो॥४६॥

अन्वयार्थ- *(समदा चिय सण्णाणं)* समता ही सम्यग्ज्ञान है *(समदा हि अत्थि धणं च सज्झाणं)* समता ही धन और सुध्यान है *(समदा वद-चारित्तं)* समता व्रत-चारित्र है *(समदादो सिज्झदि जीवो)* समता से जीव सिद्ध होता है।

अर्थ- समता ही सम्यग्ज्ञान है, समता ही धन व सुध्यान है, समता ही व्रत व चारित्र है, क्योंकि समताभाव से ही जीव सिद्ध होता है।

व्याख्या- षट्द्रव्यों का पर्यायादि सहित जो विशिष्ट ज्ञान है, उससे भेदविज्ञान प्रगट होता है और भेदविज्ञान से समताभाव। वस्तुतः समता ही सम्यग्ज्ञान का फल होने से सम्यग्ज्ञान, निजस्वभाव होने से निजधन, सद्ध्यान, व्रत चारित्र है; क्योंकि समता के आश्रय से ही जीव सिद्ध होता है।

आत्मध्यान सर्वश्रेष्ठ है

आदस्स झाण-सेट्ठं, परमेट्ठीणंच मज्झिमं झाणं।
लोगस्स झाणमधमं, विसयाणं वा महाधमं भणिदं॥४७॥

अन्वयार्थ- (आदस्स झाण सेट्ठं) आत्मा का ध्यान श्रेष्ठ है, *(परमेट्ठीणं मज्झिमं झाणं)* परमेष्ठियों का ध्यान मध्यम है *(लोगस्स झाणमधमं)* लोक का ध्यान अधम है *(च)* तथा *(विसयाणं वा)* विषय व कषायों का ध्यान *(महाधमं भणिदं)* महाअधम कहा गया है।

अर्थ- आत्मा का ध्यान श्रेष्ठ, परमेष्ठियों का ध्यान मध्यम, लोक का ध्यान अधम तथा विषय-कषायों का ध्यान महा-अधम कहा गया है।

व्याख्या- आत्मा के निजभावों से ही कर्मों का आस्रव-बंध अथवा संवर-निर्जरा होती है। यह भी ध्यानाश्रित है। जैसा ध्यान अर्थात् भावों की एकाग्रता होगी वैसा बंध या मोक्ष होगा। यहाँ पर मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आत्मध्यान को श्रेष्ठध्यान, परंपरा से मोक्ष का कारण होने से परमेष्ठियोंके ध्यान को मध्यम ध्यान, लौकिक जीवों पर दया आदि का भाव अथवा लोकरचना आदि के ध्यान को पुण्य बंध का कारण होने से अधम तथा विषय-कषाय के पापबंधक ध्यान को महा-अधम ध्यान कहा गया है।

एक विषय पर एकाग्र हुआ ज्ञान ही ध्यान है। जैसा ज्ञान वैसा ध्यान। अतः ज्ञान की दशा व दिशा सुधारते ही ध्यान की दशा सुधर जाएगी। ध्यान की दशा सुधरते ही जीव की दशा-दिशा सुधर जाएगी।

किसी भी स्थिति में भाव मत बिगाड़ो

छिज्जदु भिज्जदु अंगा, सिर-पुट्ठी हत्थ-पाय इच्चादि।
तो वि णिय संत भावं, सुद्धुवजोगं च मा हणह॥४८॥

अन्वयार्थ- (सिर-पुट्ठी हत्थ-पाय इच्चादि अंगा) सिर, पीठ, हाथ, पैर इत्यादि अंग *(छिज्जदु भिज्जदु)* छिद जावे भिद जावें *(तो वि)* फिर भी *(णिय संत भावं)* निज शांतभाव को *(च)* और *(सुद्धुवजोगं)* शुद्धोपयोग को *(मा हणह)* नष्ट मत करो।

अर्थ- सिर, पीठ, हाथ-पैर इत्यादि शरीर के अवयव कदाचित छिद-भिद जावे तो भी अपने शांतभाव व शुद्धोपयोग को नष्ट मत करो।

व्याख्या- किसी कारण से शरीर के अंग-उपांग कदाचित छिद-भिद जावे, अस्त-व्यस्त हो जावे तब भी ज्यादा चिंता मत करो, क्योंकि ऐसा होने से आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता; किंतु किसी परिस्थिति में अपने शांतभाव व शुद्धोपयोग (शुभोपयोग) को नष्ट मत करो, क्योंकि इससे आत्मा का सब कुछ बिगड़ता है। तन बिगड़े तो ज्यादा फर्क नहीं पड़ता किंतु मन बिगड़ जाये तो सब कुछ बिगड़ जाता है।

जनसंसर्ग से बचो

जेत्तिय जीवा लोए, तेत्तिय ताणं च होंति हि सहावं।
तम्हा जणसंसग्गं, मुत्ता आदे णिवासेज्जा॥४९॥

अन्वयार्थ- (जेत्तिय जीवा लोए) लोक में जितने जीव हैं *(तेत्तिय ताणं च होंति हि सहावं)* उतने ही उनके स्वभाव होते हैं *(तम्हा जणसंसग्गं मुत्ता)* इसलिए जनसंसर्ग छोड़कर *(आदे णिवासेज्जा)* आत्मा में निवास करो।

अर्थ- लोक में जितने जीव हैं, उतने उनके स्वभाव हैं, इसलिए जनसंसर्ग छोड़कर आत्मा में निवास करो।

व्याख्या- प्रत्येक जीव के भाव (परिणाम) पृथक-पृथक होते हैं। कुछ जीवों को छोड़कर किसी के परिणाम किसी से भी नहीं मिलते, ऐसे में राग अथवा

द्वेष की संभावना अधिकतम होती है। राग-द्वेष से आस्रव-बंध होता है और इससे संसार।अत: जगज्जनों का संसर्ग त्यागकर आत्मस्थित होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। इस आशय का एक श्लोक समाधितंत्र (७२) में आया है। नियमसार में भी कहा है-

णाणा जीवा णाणा कम्मा णाणाविहं हवेलद्धी।
तम्हा वयण विवादं, सग-पर समएहिं वज्जेजा॥१५६॥

अर्थात् लोक में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं; अत: स्व-पर के विषय में वचन-विवाद का त्याग करो।

कोई मेरा कुछ नहीं

को वि मम किंचि णत्थि, अहमवि कस्स य किंचि णो अत्थि।
एगत्तं कुणदु आदे, जेण दु सिग्घं हि सिज्झेज्जा॥५०॥

अन्वयार्थ- (को वि मम किंचि णत्थि) कोई मेरा कुछ भी नहीं है *(अहमवि कस्स य किंचि णो अत्थि)* मैं भी किसी का कुछ नहीं हूँ [ऐसा विचारकर] *(आदे एगत्तं कुणदु)* आत्मा में एकत्व करो *(जेण दु सिग्घं हि सिज्झेज्जा)* जिससे शीघ्र ही सिद्ध हो जावे।

अर्थ- हे जीव! कोई मेरा कुछ नहीं है और मैं भी किसी का कुछ नहीं हूँ, ऐसा विचार कर निज आत्मा में एकत्व करो, जिससे शीघ्र ही सिद्ध हो जावे।

व्याख्या- हे चैतन्यात्मन्! सतत् इस प्रकार का विचार करो कि जगत का अन्य कोई जीव- अजीव पदार्थ तो ठीक यह देह, वचन और मन भी मेरे नहीं है, और वस्तु स्वभाव से मै भी किसी का नहीं हूँ। ऐसा विचारकर निज ज्ञायक स्वभाव में स्थिर होओ। इससे शीघ्र ही सिद्धि हो जावेगी।

यह मोक्षमार्ग है

तव दिट्ठी जत्थ अत्थि, तत्थ करेह णियल्लपुट्ठी य।
णाणेण सव्व चेट्ठा, करेह एसो हि मोक्खपहो॥५१॥

अन्वयार्थ- (तव दिट्ठी जत्थ अत्थि) तुम्हारी दृष्टि जहाँ है *(तत्थ करेह णियत्तपुट्ठी)* वहाँ अपनी पीठ करो *(य)* और *(णाणेण सव्व चेट्ठा, करेह)* ज्ञान पूर्वक सब चेष्टा करो *(एसो हि मोक्खपहो)* यह ही मोक्षमार्ग है।
अर्थ- जहाँ तेरी दृष्टि है, वहाँ अपनी पीठ करो और सब चेष्टा ज्ञानपूर्वक करो, यह ही मोक्षमार्ग है।

व्याख्या -हे जीव! निज स्वरूप से विपरीत विषय-कषाय और राग-द्वेष की ओर से दृष्टि हटाकर ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि तथा जगत के पदार्थों की और पीठ करो। ज्ञान पूर्वक संसारी-जनों से विपरीत समस्त चेष्टाएँ करो। यह ही मोक्षमार्ग है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव संपन्न है

धण-धण्णादि अण्णा, इत्थी पुत्तादि कुडुंब संबंधा।
देहं कम्मं च तहा, अत्तादो णाण संपण्णो ॥५२॥

अन्वयार्थ- (णाणं संपण्णो) ज्ञान संपन्न *(अत्तादो)* आत्मा से *(धण-धण्णादि)* धन धान्यादि *(इत्थी पुत्तादि कुडुंब संबंधा)* स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब संबन्ध *(च)* और *(देहं तहा कम्मं)* देह तथा कर्म *(अण्णा)* अन्य हैं।
अर्थ- ज्ञान-संपन्न आत्मा से धन-धान्यादि, स्त्री-पुत्रादि और देह तथा कर्म अन्य हैं।

व्याख्या- ज्ञान- दर्शन आदि गुण वाले चैतन्य आत्मा से लोक प्रचलित धन- धान्यादि, स्त्री - पुत्रादि तथा देह व कर्मादि के संबंध पृथक हैं। ऐसा निरंतर विचार करो। यदि ऐसा आचरण में आ जाए तब तो बहुत अच्छा है। यदि वैसा संभव न हो तो वस्तु स्वभाव का ज्ञानकर श्रद्धान तो करना ही चाहिए। इससे अहंकार आदि नहीं बढ़ते हैं।

मोहभाव का त्याग ही वैराग्य है

असणं वसणं कणगं, चागं अत्थि दु बाहिरं चागं।
मोहभावस्स चागे, उप्पज्जदि सेट्ठ-वेरग्गो ॥५३॥

अन्वयार्थ- (असणं वसणं कणगं चागं) अशन, वस्त्र, स्वर्ण त्याग *(बाहिरं चागं अत्थि)* बाहिरी त्याग है *(दु)* किंतु *(मोहभावस्स चागे उप्पज्जदि सेट्ठ-वेरग्गो)* मोहभाव का त्याग होने पर श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न होता है।

अर्थ- भोजन, वस्त्र, स्वर्ण आदि का त्याग बाहिरी त्याग है, जबकि मोहभाव के त्याग से श्रेष्ठ वैराग्य होता है।

व्याख्या- लोक में कुछ लोग केवल बाहिरी त्याग को ही त्याग मानते हैं, जबकि आचार्य कुंद-कुंद देव कहते है- 'भावविरदो दु विरदो, ण दव्वविरदस्स सुग्गदि होदि।' अर्थात् भावों से विरक्त ही विरक्त है, केवल द्रव्य-त्यागी की सुगति नहीं होती।

बाहिरी त्याग तो होना ही चाहिए, किंतु उसके साथ अंतरंग मोह (मिथ्यात्व) अर्थात् विपरीत मान्याताओं का भी त्याग होना चाहिए। ऐसा होने पर हीं श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न होता है। इससे स्वात्मोपलब्धि होती है।

परमात्मा समान मनुष्य

अब्भिंतरादो जस्स, मोह दुगंठी य विगलिदं जादं।
विसय-कसाय विरहिदो, सो परमप्पा समो मणुसो॥५४॥

अन्वयार्थ- (जस्स) जिसके *(अब्भिंतरादो)* भीतर से *(मोह दुगंठी विगलिदं जादं)* मोह-दुर्ग्रन्थी गल गई है *(य)* और [जो] *(विसय-कसाय विरहिदो)* विषय-कषाय विरहित है *(सो)* वह *(परमप्पा समो मणुसो)* परमात्मा के समान मनुष्य है।

अर्थ- जिसके भीतर से मोह की खोटी गांठ गल गई है और जो विषय-कषाय से रहित है, वह मनुष्य परमात्मा के समान है।

व्याख्या- इस हीन काल में भी जिसने भेदविज्ञान के बल से वस्तुस्वभाव को भलीप्रकार जानकर मोहरूपी अनादिकालीन खोटी गांठ को गला डाला है तथा जो पंचेन्द्रिय के विषयों से व क्रोधादि कषायों से अच्छी तरह अलग हो गया, वह परमात्मा के समान मनुष्य है। क्योंकि इन दोषों के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर मनुष्य ही परमात्मा होता है।

शुद्धोपयोग ही निजधर्म है

जोगपवुत्तिए कम्मं, अतच्चणाणेण होदि मिच्छत्तं।
सुहासुहेहि य बंधो, सुद्धुवओगेण णियधम्मो॥५५॥

अन्वयार्थ- (जोगपवुत्तिए कम्मं) योगप्रवृत्ति से कर्म *(अतच्चणाणेण मिच्छत्तं)* अतत्त्वज्ञान से मिथ्यात्व *(सुहासुहेहिं बंधो)* शुभाशुभ से बंध *(य)* और *(सुद्धुवओगेण)* शुद्धोपयोग से *(णियधम्मो होदि) निजधर्म होता है।*

अर्थ- योग प्रवृत्ति से कर्म, अतत्त्व ज्ञान से मिथ्यात्व, शुभाशुभभाव से बंध तथा शुद्धोपयोग से जिनधर्म होता है।

व्याख्या- मन-वचन-कायरूप योगों की चंचलता से कर्मों का आस्रव होता है। तत्त्व की सच्ची समझ न होने से मिथ्यात्व बना रहता है। शुभोपयोग व अशुभोपयोग से क्रमशः पुण्य-पाप का आस्रव-बंध होता रहता है। जबकि धर्म तो निज शुद्धोपयोग का आश्रय लेने पर ही होता है। जैसा कि प्रवचनसार में कहा है-

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामा णण्णगदं दुक्खक्खय कारणं समए॥१८१॥

शुभपरिणामों से पुण्य होता है, अशुभ से पाप होता है; जबकि आत्मा से अनन्यगत परिणाम अर्थात् शुद्धोपयोग जिनशासन में दुःख-क्षय का कारण कहा है।

मन, वचन, काय की शुभ परिणति ही धर्म नहीं है, अपितु उपयोग की शुद्धि में कारण होने से इन्हें धर्म कहा जाता है। शुभपरिणति के साथ आत्म-केन्द्रित दृष्टि ही कल्याणकारी है।

हे जीव! चूको मत

देसं कालं जम्मं, कुलं च धम्मं सुदेवगुरुसत्थं।
पाऊण य पुण्णेण, मा चुक्कह कुणह आदहिदं॥ ५६॥

अन्वयार्थ- (पुण्णेण) पुण्य से *(देसं कालं जम्मं कुलं च धम्मं सुदेवगुरुसत्थं)* देश, काल, जन्म, कुल, धर्म और सच्चे देवशास्त्रगुरू को *(पाऊण)* प्राप्तकर *(मा चुक्कह)* चूको मत *(आदहिदं)* आत्महित *(कुणह)* करो।

अर्थ- पुण्य से देश, काल, जन्म, कुल, धर्म और सच्चे देवशास्त्रगुरु प्राप्तकर, हे जीव! चूको मत, आत्महित करो।

व्याख्या -विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से राजा -मंत्री आदि से व्यवस्थित देश, पंचम किंतु अनुकूल काल, मानव जन्म, श्रेष्ठ कुल, वीतराग

दिगम्बर जैन धर्म, तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरू को प्राप्तकर हे आत्मन्! चूक मत करो। इस पर्याय में आत्महित निश्चित ही कर लो, नहीं तो पछताना पड़ेगा।

अहिंसा की परिभाषा

परं अहिंसा धम्मो, अत्थि रागादि-दोस-परिचागं।
जीवाण-रक्खणं च, पसंत- भावो वदं च ववहारो॥५७॥

अन्वयार्थ- (परं अहिंसा धम्मो) परम अहिंसा धर्म *(रागादि-दोस-परिचागं अत्थि)* रागादि दोष के त्यागरूप है *(च)* तथा *(जीवाण-रक्खणं)* जीवों की रक्षा *(पसंत-भावो य वदं)* प्रशांतभाव व व्रत *(ववहारो)* व्यवहार अहिंसा है।
अर्थ- रागादि दोषों के त्यागरूप निश्चय अहिंसा धर्म है तथा जीवों की रक्षा, प्रशांतभाव व व्रतधारणरूप व्यवहार अहिंसा धर्म है।

व्याख्या- रागादिभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही वस्तुत: अहिंसा है। जैसा कि अमृतचंद सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है-

अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेपोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप:॥४॥

जीव की आत्मस्थदशा निश्चय अहिंसा है तथा षट्काय के जीवों की रक्षा करना, प्रशमभाव व्रतादिधारण करना व्यवहार अहिंसा है। व्यवहार अहिंसा कारण है, इसके बिना निश्चय अहिंसा नहीं सध सकती।

कैसी उपेक्षा अहिंसा है

सकसायत्त उवेक्खा, इमा हि हिंसा अणंत कोहो वा।
समवुत्तिए उवेक्खा, इमा अहिंसा य मोक्खपहो॥५८॥

अन्वयार्थ- (हि) वस्तुत: *(सकसायत्त उवेक्खा)* कषाय सहित उपेक्षा *(इमा हि हिंसा वा अणंत कोहो)* यह हिंसा अथवा अनंत क्रोध है और *(समवुत्तिए उवेक्खा)* समवृत्ति की उपेक्षा *(इमा अहिंसा य मोक्खपहो)* यह अहिंसा अथवा मोक्षपथ है।
अर्थ- कषाय सहित उपेक्षा ही हिंसा अथवा अनंत क्रोध है, जबकि समभावों की उपेक्षा अहिंसा अथवा मोक्षपथ है।

व्याख्या- किसी को अपना शत्रु मानकर उसे बुरा समझना तथा उससे दूर रहना, बात नहीं करना, मन में गांठ बाँधे रखना आदि यह जो कषायभाव पूर्वक उपेक्षावृत्ति बनाई गई है; यह ही हिंसा अथवा अनंतानुबंधी क्रोध है, क्योंकि अपने परिणामों में निरंतर कठोरता, द्वेष अथवा कषायलापन भरा हुआ है। जबकि समभावपूर्वक समस्त बाह्य व्यक्ति व वस्तुओं के प्रति कि ये मेरे नहीं है, इनका परिणमन इनके अधीन, मैं दूसरे के और दूसरा मेरे परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता नही हैं, तब मैं राग-द्वेष क्यों करूँ; ऐसी जो उदासीनता पूर्ण सहज प्रवृत्ति है, वह ही अहिंसा व मोक्षमार्ग है।

पद आपद सहित हैं

आपद-सहिदं हि पदं, भवस्स मूलं दुक्ख हिंसा वा।
णियपद आपदरहिदं, तम्हा णाणपदं तु तं पेक्ख॥५९॥

अन्वयार्थ- (पदं) पद *(हि)* वस्तुतः *(आपद-सहिदं)* आपद सहित *(भवस्स मूलं दुक्ख हिंसा वा)* संसार के कारण दुःख अथवा हिंसा हैं *(तु)* किंतु *(णियपद आपदरहिदं)* निजपद आपद रहित है *(तम्हा)* इसलिए *(तं)* उस *(णाणपदं)* ज्ञानपद को *(पेक्ख)* देखो।

अर्थ- संसार के पद आपद सहित हैं, संसार के कारण, दुःख अथवा हिंसा हैं, किन्तु निजपद आपदरहित है, इसलिए उसे देखो।

व्याख्या- हे प्रभु आत्मन्! संसार के जितने भी सामाजिक, राजनैतिक, शासकीय, प्रशासकीय पद हैं, वे सब आपद (आपत्ति) के ही कारण हैं। इन पदधारियों को दूसरों से खतरा व द्वेष प्रायः रहता है, जिससे परिणामों में निरंतर चल-विचलता बनी रहती है। यह परिणामों की अशुद्धि संसार का मूलकारण है, मानसिक व दैहिक दुःख तथा हिंसा का भी मूल यही है। जबकि आत्मा का निजज्ञानपद समस्त आपत्तियों से रहित मोक्ष, सुख व अहिंसा का मूलकारण है। अतः भो आत्मन्! अपने ज्ञानपद पर दृष्टि दो। क्षायोपशमिक ज्ञान व किंचित् पुण्य के बल से प्राप्त बाह्यपदों का तेरे निजपद के सामने क्या मूल्य है? कुछ भी नहीं। निजपद शाश्वत व आनंद सहित है, जबकि लौकिक पद अशाश्वत व दुःख सहित हैं।

आत्मघाती कौन है

परजीवेसु करुणा, कसायभावे हि अप्पणो घादं।
करेदि सो अण्णाणी, जीवो पोसेदि मिच्छत्तं ॥६०॥

अन्वयार्थ- [जो] *(परजीवेसु करुणा)* अन्य जीवों पर करुणा [व] *(कसायभावे हि अप्पणो घादं करेदि)* कषायभावों से अपना घात करता है *(सो अण्णाणी)* वह अज्ञानी जीव *(मिच्छत्तं)* मिथ्यात्व को *(पोसेदि)* पोषता है।

अर्थ- जो अन्यजीवों पर तो करुणा तथा कषायभावों से अपनी आत्मा का घात करता है, वह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व को पोषता है।

व्याख्या- वस्तुस्वरूप के ज्ञान बिना यदि कोई अन्यजीवों की तो रक्षा करता है, इतने मात्र को ही धर्म मानता है तथा कषायभावों के वशीभूत हो निरंतर क्रोधादि करने रूप आत्मघात करता है, वह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व का ही पोषण करता है; क्योंकि उसे वस्तुतः जीव व कषायभावों की अलग-अलग पहचान नहीं है। यहाँ जीवों की रक्षा करने में जो अहंकार का अभिनिवेश तथा कषायभावों में एकत्वबुद्धि है, उसे आत्मघात तथा मिथ्यात्व का पोषक कहा गया है।

मिथ्यात्व पोषक कौन है

कोहादि कसायाणं, मंदं कादूण होदि संतुट्ठो।
तस्सिं चिय सामित्तं, करेदि पोसेदि मिच्छत्तं ॥६१॥

अन्वयार्थ- [जो] *(कोहादि कसायाणं मंदं कादूण)* क्रोधादि कषायों को मंद करके *(संतुट्ठो)* संतुष्ट *(होदि)* होता है [तथा] *(तस्सिं चिय सामित्तं करेदि)* उसमें ही स्वामित्व करता है [वह] *(मिच्छत्तं पोसेदि)* मिथ्यात्व को पोषता है।

अर्थ- जो क्रोधादि कषायभावों को मंद करके संतुष्ट होता है तथा उसमें ही स्वामित्व करता है, वह भी मिथ्यात्व का पोषण करता है।

व्याख्या-जो क्रोधादि कषायों को आत्मा से पृथक और अग्राह्य नहीं समझता हुआ। क्रोधादि की मंदता धारण करके उसमें ही अहंभाव धारण करता है अथवा क्रोधादि की हीनता में ही स्वामित्व करता है। वह भेदविज्ञानी न होने से मिथ्यात्व का ही पोषण करता है।

णिय अप्पा परमप्पा, सव्वुक्कट्ठं च जादि णिव्वाणं।
धण-पद-वपुं च सेट्ठं, मण्णदि पोसेदि मिच्छत्तं ॥६२॥

अन्वयार्थ- (णिय अप्पा परमप्पा) निज आत्मा परमात्मा [च] और *(सव्वुक्कटठं)* सर्वोत्कृष्ट है [क्योंकि] *(णिव्वाणं जादि)* निर्वाण को जाता है [किंतु] *(धण-पद-वपुं च सेट्ठं मण्णदि)* धन, पद व शरीर आदि को जो श्रेष्ठ मानता है [वह] *(मिच्छत्तं पोसेदि)* मिथ्यात्व को पोषता है।

अर्थ- निज आत्मा ही परमात्मा है, सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि वह निर्वाण को प्राप्त करता है। जो धन, पद या शरीरादि को श्रेष्ठ मानता है, वह मिथ्यात्व को पोषता है।

व्याख्या-'अप्पा सो परमप्पा।' बीजभूत यह संसारी आत्मा ही परमात्मा होता है। इन संसारी जीवों में जो स्व-रूप का बोध पा लेते हैं, वे पुरुषार्थ के बल से परमात्मा हो जाते हैं। निम्नपर्याय में स्थित भी आत्मा अन्य सब पदार्थों से उत्कृष्ट है। क्योंकि किसी भी समय योग्य पर्याय पाकर तीव्र पुरुषार्थ के बल से यह जीव निर्वाण को जाता है। जो व्यक्ति अपने ज्ञायक स्वभाव को कुछ नहीं समझकर धन, पद, वैभव अथवा देहादि को आत्मद्रव्य से श्रेष्ठ समझता है, मानता है, वह मिथ्यात्व का पोषण करता है। क्योंकि वह अचेतन जड़ पदार्थों में आसक्तिपूर्ण एकत्व रखे हुए है और उसे अपने स्वरूप की जरा भी खबर नहीं। अपना ज्ञानधन, ज्ञानपद व ज्ञानशरीर ही सम्यग्दृष्टि को अपना अनुभवमें आता है। बाकी तो सब धूल-धानी और हवा-पानी है, उसमें क्या निजत्व करना।

श्रेष्ठतम पुरुषार्थ

णियरूवम्मि थिरत्तं, सेट्ठं इणमो य अत्थि पुरुषत्थं।
णस्सेदि खणे दुक्खं, णाणसहावे थिरत्तेणं ॥६३॥

अन्वयार्थ- (णियरूवम्मि थिरत्तं) निजरूप में स्थिरता *(इणमो)* यह *(सेट्ठं)* श्रेष्ठ *(पुरुषत्थं)* पुरुषार्थ *(अत्थि)* है *(य)* और *(णाणसहावे थिरत्तेणं)* ज्ञानस्वभाव में स्थिर होने से *(दुक्खं खणे णस्सेदि)* दुःख क्षण में नष्ट हो जाता है।

अर्थ- निजस्वरूप में स्थिरता यह श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, क्योंकि ज्ञानस्वभाव में स्थिर होने से क्षणभर में दुःख नष्ट हो जाता है।

व्याख्या-ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले निजात्मतत्त्व को अच्छी तरह जानकर उसमें ही स्थिरता धारण करना, यह श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। क्रोधादि के उदय में कषायभावों का होना, रागादि के उदय में परपदार्थों में ममत्व होना अनादिकाल से चल रहा है, जबकि यह जीव का स्वभाव नहीं, अपितु कर्मरूप पुद्गल द्रव्य से प्रेरित जीव की विभाव परिणति है।विभावों में स्थिरता तो खोटा पुरुषार्थ है, जबकि निजरूप में स्थिरता सच्चा और श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। ऐसा करने से क्षणभर में ही आकुलता-व्याकुलतारूप दुःखों का अभाव हो जाता है। बस इसकी लगन, पकड़ व सही पहचान होना चाहिए।

ज्ञानी परमार्थ साधते हैं

लोगिगजणा लोगिगा, करेंति भवब्भमणकारी पुरुसत्थं।
पत्ता देहं-धम्मं, णाणी साहेंति परमत्थं ॥६४॥

अन्वयार्थ- (लोगिगजणा लोगिगा) लौकिकजन लौकिक *(भवब्भमणकारी पुरुसत्थं करेंति)* भव-भ्रमणकारी पुरुषार्थ को करते हैं [जबकि] *देहं-धम्मं पत्ता)* देह व धर्म को पाकर *(णाणी)* ज्ञानी *(परमत्थं)* परमार्थ को *(साहेंति)* साधते हैं।

अर्थ- लौकिकजन भव-भ्रमणकारी पुरुषार्थ को करते हैं, जबकि ज्ञानी देह व धर्म को पाकर परमार्थ साधते हैं।

व्याख्या-संसारी लोकजन धन कमाना, मकान बनाना, गाड़ी खरीदना, बच्चों का विवाह करना आदि तरह-तरह के लौकिक पुरुषार्थ करते हैं। इनमें निरंतर राग-द्वेष होते हैं, आत्म-अस्थिरता बढ़ती है; जिससे कर्मबंध होता है और कर्मबंध से संसार भ्रमण जारी रहता है, इसलिए इसे सांसारिक पुरुषार्थ कहा है। इसके विपरीत जो भेद-विज्ञानी जीव हैं, वे इस उत्तम मानव देह तथा महान जैनधर्म को पाकर निरंतर स्वरूप में रमणकर परमार्थ साधते हैं अर्थात् मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करते हैं। जो यहीं छूट जाना है, उसके लिए क्यों जीवन खराब करना।

प्रथम ही आत्महित करो

कुज्जा अप्पस्स हिदं, जदि सक्कदि परहिदं वि कुज्जेह।
दोण्हं मज्झे णियगं, सुद्धसरूवं हि साहेज्जा ॥६५॥

अन्वयार्थ- (अप्पस्स हिदं) आत्मा का हित *(कुज्जा)* करो *(जदि सक्कदि परहिदं वि कुज्जेह)* यदि शक्य हो तो दूसरों का भी हित करो *(दोण्हं मज्झे णियगं, सुद्धसरूवं च साहेज्जा)* दोनों में से निज शुद्धस्वरूप को साधो।

अर्थ- आत्मा का हित करो, यदि संभव हो तो परहित भी करो, दोनों में निज शुद्ध-स्वरूप को ही साधो।

व्याख्या- हे आत्मन्! यह मानव पर्याय पाकर निश्चित ही आत्मकल्याण की दिशा में पुरुषार्थ करो। तुम्हारी स्थिरवृत्ति बनी रहने के बाद यदि संभव हो तो अन्य जीवों के कल्याण के लिए प्रवचन, शिक्षा-दीक्षा देनेरूप परहित करो। लेकिन दोनों के बीच में अपना हित साधना मुख्य है। अपना घर जलाकर दूसरों की सर्दी मिटाना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है।

आत्महित आज ही करो

आदहिदं जदि इच्छसि, करिज्ज णियमेण सो वि अज्जेव।
पुव्वं च तच्चणाणं, पच्छा धारेज्ज जिणरूवं ॥६६॥

अन्वयार्थ- (आदहिदं जदि इच्छसि) आत्महित यदि चाहते हो [सो] वह *(णियमेण)* णियम से *(अज्जेव)* आज ही *(करिज्ज)* करो *(पुव्वं तच्चणाणं)* पहले तत्त्वज्ञान *(च)* और *(पच्छा जिणरूवं धारेज्ज)* बाद में जिनरूप धारण करो।

अर्थ- हे जीव! यदि तुम आत्महित चाहते हो तो वह नियम से आज ही कर डालो, उसमें भी पहले तत्त्वज्ञान और पश्चात् जिनरूप धारण करो।

व्याख्या-आचार्य कुंदकुंद देव ने प्रवचनसार (२०१) में कहा है- पडिवज्जदु सामण्णं, इच्छदि जदि दुक्ख परिमोक्खं। यदि दुःखों से छूटने की इच्छा है, तो दीक्षा धारण करो। असंयम और कषाय भावों से छूटकर व्रतादि धारण करना व्यवहार आत्महित है तथा निजात्म में तल्लीन होना, यह निश्चय आत्महित है।

व्रत-संयम धारण करने के पूर्व तत्त्वज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। तत्त्वज्ञान की श्रद्धा सम्यग्दर्शन तथा तत्त्वज्ञान का आचरण सम्यक् चरित्र है। श्रद्धानात्मक तत्त्वज्ञान होने पर जो चारित्र होता है, वह जीव के कर्मबंधनों को छेदकर मोक्षप्रदान करने वाला होता है। छहढाला में कहा है-'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे।'

परदोष दृष्टा आत्महित कैसे साधेगा

परदोसं चिय वुच्चदि, णियदोसं च ण किंचि पस्सेदि।
अतच्चणाणी मूढो, सो किह साहेदि अप्पहिदं ॥६७॥

अन्वयार्थ- [जो] *(परदोसं चिय वुच्चदि)* दूसरे के दोष ही कहता है *(च)* और *(णियदोसं ण किंचि पस्सेदि)* निजदोष को कुछ भी नहीं देखता *(सो)* वह *(अतच्चणाणी मूढो)* अतत्त्वज्ञानी मूढ़ *(अप्पहिदं)* आत्महित *(किह साहेदि)* कैसे साधेगा।

अर्थ- जो दूसरे के दोष ही कहता है और अपने दोष कुछ भी नहीं देखता, वह अतत्त्वज्ञानी मूढ़ आत्महित कैसे साधेगा।

व्याख्या- जो दूसरों के छोटे-छोटे दोष देखने में जागते रहते हैं तथा अपने हाथी जैसे बड़े दोष देखने में आँख बंद करके रखते हैं। हे भगवान! वे तपस्वी क्या करेंगे? वे तो आपके शासन में अपात्र हैं। स्वयंभूस्त्रोत में यह बात आचार्य समंतभद्र ने लिखी है-

ये परस्खलितोन्निद्राः स्व-दोषेभ-निमीलिनः।
तपस्विनस्ते किं कुर्यु-रपात्रं त्वन्मश्रियाः ॥९९॥

यह सटीक तथ्य है कि जिसकी दृष्टि परपदार्थ, परदोषों पर है, वह बहिर्मुख है तथा बहिर्मुख (बहिरात्मा) व्यक्ति कभी आत्महितैषी नहीं हो सकता है। यदि आत्महित करना है, तो अन्तर्दृष्टि करो। अपने ही दोषों को देखो और निर्दोष बनो। एक प्रसिद्ध दोहा है-

दोष पराए देखकर, चला हसत-हसंत।
अपने याद न आवहि, जिनका आदि न अंत॥

ज्ञाता-दृष्टा भाव कर्मों को धोता है

णाऊण य परवत्थुं, रागद्दोसा जदि णो उट्ठेदि।
एसो णादा-दिट्ठा-,भावो य धुणेदि बहुकम्मं ॥६८॥

अन्वयार्थ- (परवत्थुं णाऊण) परवस्तु को जानकर *(जदि)* यदि *(रागद्दोसा णो उट्ठेदि)* राग-द्वेष नहीं उठते हैं [तो] *(एसो णादा-दिट्ठा-भावो)* यह ज्ञाता-दृष्टाभाव है *(य)* और यह *(बहुकम्मं)* बहुत कर्मों को *(धुणेदि)* धुनता है।
अर्थ- परवस्तुओं को जानकर भी यदि राग-द्वेष नहीं उठता तो यह ज्ञाता-दृष्टाभाव है तथा यह बहुत कर्मों को धुनता है।
व्याख्या- पर-वस्तु अथवा व्यक्ति में गुण अथवा दोष देखकर भी यदि राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती है तो यह उस जीव का ज्ञाता-दृष्टा भाव है। यह ज्ञाता-दृष्टाभाव वीतरागता को वृद्धिंगत कर अत्यंत स्थिरता बढ़ाने वाला है। इससे अनंतानंत कर्मों का नाश होता है तथा आगामी कर्मों का आस्रव-बंध रुकता है। अतः यह चारित्रसंपन्न सम्यक्दृष्टि ही आदरणीय और अनुकरणीय है।

ज्ञानी अपनी कथा अपने से करते हैं

णाणी सकहालावं, करेंति णिच्चं णिएण संगेणं।
सण्णाणीहि वि णियदं, अण्ण-जणेहिं दु किं कज्जं॥६९॥

अन्वयार्थ- (णाणी सकहालावं) ज्ञानी स्वकथालाप *(णियेण संगेणं)* निज के साथ *(णिच्चं)* नित्य *(करेंति)* करते हैं *(सण्णाणीहि वि णियदं)* सम्यग्ज्ञानियों से भी नियत *(दु)* तब *(अण्ण-जणेहिं किं कज्जं)* अन्यजनों से क्या कार्य?
अर्थ- ज्ञानीजन स्वकथालाप निजके साथ नित्य करते हैं, सम्यग्ज्ञानियों से भी नियत तत्त्वचर्चा करते हैं, तब अन्यजनों की क्या बात?
व्याख्या- आत्मज्ञानी महानुभाव अन्तर्मुख होकर चिन्तन-मननरूप तत्त्वचर्चा अथवा आत्मानुभव रूप वार्ता निज आत्मा के साथ ही करते हैं अर्थात् स्व-स्वरूप में ही प्रायः तल्लीन रहते हैं अथवा स्वभावस्थ रहने का तीव्र पुरुषार्थ करते हैं। वे सम्यग्ज्ञानधारी सधर्मी बंधुओं से भी व्यवस्थित, कल्याणकारी, सीमित तत्त्वचर्चा करते हैं, विनय-व्यवहार करते हैं; फिर अन्य जनों की क्या बात? अर्थात् जब वे संयमी व अकषायी जनों से भी आगमानुसार निर्धारित, व्यवस्थित व अल्प वार्ता-व्यवहार करते हैं, तब असंयमी व कषायी-जनों से क्यों वार्ता-व्यवहार करेंगे? आवश्यक होने पर लौकिकजनों से भी कदाचित् किंचित वार्ता-व्यवहार कर लेते हैं।

ज्ञानी परमें सुख नहीं मानते

णियरस-पीऊण परं, णाणीओ पर-रसं च विसरंति।
किंवि ण परेसु सोक्खं, आदसहावे य अत्थि बहुसोक्खं॥७०॥

अन्वयार्थ- (परं णियरस-पीऊण) श्रेष्ठ निजरस को पीकर *(णाणीओ पर-रसं च विसरंति)* ज्ञानी पर-रस को भूल जाते हैं [क्योंकि] *(परेसु)* परमें *(किंवि ण सोक्खं)* कुछ भी सुख नहीं है [जबकि] *(आदसहावे य अत्थि बहुसोक्खं)* आत्मस्वभाव में बहुत सुख है।

अर्थ- श्रेष्ठ निजात्मरस को पीकर ज्ञानीजन पर-रस को भूल जाते हैं, क्योंकि परमें कुछ भी सुख नहीं है, जबकि आत्मस्वभाव में सुख है।

व्याख्या- राग-द्वेष, कषायादि के अनुदय या अवेदक रूप निज शुद्धात्मानुभव रूप आनंद रस को पीकर ज्ञानीपुरुष पर-रस को भूल जाते हैं। वस्तुतः भूल नहीं जाते अपितु वस्तु-स्वभाव समझ में आ जाता है कि बाह्य वस्तुओं में सुख नहीं हैं, क्योंकि अचेतन वस्तुओं में सुख गुण नहीं है। यदि किसी चेतन स्त्री-पुत्रादि से सुख की मान्यता रही हो तो अब यह समझ में आ जाता है कि उनका सुखगुण उनका है, उससे मुझे क्या सुख होगा। मुझे तो मेरे आत्मीय स्वभाव में रमने पर ही बहुत सुख (आनंद) होता है। तब पर-पदार्थों की ममता स्वतः मिट जाती है।

ज्ञानी निज में रमते हैं

गणेंति रागं रुग्गिव, पर-संगं बहुविधं च तावकरं।
णिए रमेंति दु णाणी, सव्वं कम्मं विणासंति॥७१॥

अन्वयार्थ- (णाणी) ज्ञानीजन *(रागं रुग्गि)* राग को रोग के समान *(च)* और *(पर-संगं बहुविधं तावकरं)* परसंग को बहुविध तापकर *(गणेंति)* गिनते हैं *(दु)* इसलिए *(णिए रमेंति)* निज में रमते हैं *(च)* तथा *(सव्वं कम्मं विणासंति)* सभी कर्मों का विनाश कर डालते हैं।

अर्थ- ज्ञानीजन राग को रोग के समान और परसंगति को बहुविध तापकारी मानते हैं, इसलिए निजमें रमते हैं तथा सब कर्मों का नाश कर देते हैं।

व्याख्या- जिन्हें भेदविज्ञान उपलब्ध हुआ है। उस भेदज्ञान के बल पर जिन्होंने राग-द्वेष, क्रोधादि समस्त वैभाविक भावों को अपने स्वरूप से अन्य जान लिया है, श्रद्धान कर दिया है। ऐसे महानुभाव राग को रोग के समान दुःखदायी मानते हैं। भले ही उन्हें कदाचित रागपूर्ण प्रवृत्ति करनी पड़ती हो, तब भी वे राग को उपादेय तो नहीं ही मानते।

मनुष्यादि चेतन व गृहादि अचेतन वस्तुओं की संगति कदाचित उन्हें करनी भी पड़े, तो भी वे पर-संग को रागादि रूप ताप का कारण होने से बहुविध संतापकारी मानते हैं। इसलिए वे आनंदस्वभाव वाले निजात्म सरोवर में ही रमते हैं, क्रीड़ा करते हैं। ऐसा करने से अनायास ही वे समस्त कर्मबंधन का नाश कर डालते हैं और सदा के लिए निज में ही रम जाते हैं, सिद्ध हो जाते हैं।

यदि समता चाहते हो तो परमें आदर छोड़ो

जदि इच्छसि समभावं, तो पर-वत्थूसु आदरं मुंच।
धणं दारादि जावं, रुच्चदि तावं च दुक्ख-संघादं॥७२॥

अन्वयार्थ- (जदि) यदि *(समभावं इच्छसि)* समभाव को चाहते हो *(तो पर-वत्थूसु आदरं मुंच)* तो पर-वस्तुओं में आदर छोड़ो [क्योंकि] *(धणं दारादि जावं रुच्चदि)* धन व स्त्री आदि जब तक रुचता है *(तावं दुक्खसंघादं)* तब तक दुःखसमूह है।

अर्थ- यदि समभाव चाहते हो तो पर-वस्तुओं में आदर करना छोड़ दो, क्योंकि जब तक धन व स्त्री आदि रुचता है, तब तक दुःखसमूह है।

व्याख्या- हे जीव! यदि तुम्हें भी समतारस का आनंद चाहिए हो, तो समस्त पर-वस्तुओं में ममत्वपूर्ण आदरभाव छोड़ो। क्योंकि अज्ञानतावश जब तक धन अर्थात् सोना-चांदी, रुपया-पैसा, दुकान-मकान आदि तथा स्त्री व पुत्र-पौत्रादि कुटुंबीजनों में आसक्ति मूलक राग है, तब तक दुःखों का समूह है।

दुःखों का समूह इसलिए है, कि इस जीव को अपने स्वरूप की तो कुछ खबर नहीं है और धन-दारादि में एकत्व करके, हाय मेरा धन!

हाय मेरी स्त्री! इत्यादि आकुलतारूप भाव अथवा भोगने रूप संक्लेशित भाव रखता है। इनके पीछे वह अपने आनंद गुण को भूलकर रात-दिन पशुओं की तरह मेहनत करके धन कमाता है, स्त्री आदि भोगता है और इसी मूढ़ता में अपने जीवन का अमूल्य समय और मानव तन खो देता है। अंततः हाथ कुछ भी नहीं आता।

दर्शन–सुखादि जीव में है

दंसण-सुह-णाणादि, जीव सरूवम्मि अत्थि वत्थूदो।
पुग्गल धम्माधम्मे कालायासे य णत्थि त्ति॥७३॥

अन्वयार्थ- (वत्थूदो) वस्तुतः *(दंसण-सुह-णाणादि जीव सरूवम्मि अत्थि)* दर्शन, सुख, ज्ञानादि जीव में हैं *(पुग्गल धम्माधम्मे कालायासे य णत्थि त्ति)* पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल में नहीं है।

अर्थ- दर्शन, सुख, ज्ञानादि वस्तुतः जीव के स्वरूप में हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल में नहीं हैं।

व्याख्या- 'चैतन्य लक्षणो जीवः'। जीव चैतन्य लक्षण वाला है। जीव के अलावा शेष द्रव्य अजीव हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि जीवद्रव्य के विशेषगुण हैं। समस्त जीवों में इन गुणों का अंश अवश्य होता है क्योंकि गुणों का सर्वथा अभाव नहीं होता। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल में ये गुण कदापि नहीं पाए जाते, क्योंकि उनके विशेष गुण अन्य हैं। ऐसा जानकर पुद्गलादि द्रव्यों में नहीं, निजात्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुणों में ही एकत्व करना चाहिए। जीव का स्वभाव तो जानना है तथा पदार्थों का स्वभाव जानने में आना है।

पर से अथवा ज्ञान से बंध नहीं होता

परदो य णत्थि बंधो, णाणसहावेण णत्थि बंधो त्ति।
रागेण य बज्झेदि, चेयण! जीवो तम्हा तु तं मुंचह॥७४॥

अन्वयार्थ- (परदो य णत्थि बंधो) पर से बंध नहीं होता है *(णाणसहावेण णत्थि बंधो त्ति)* और न ही ज्ञानस्वभाव के द्वारा ही बंध होता है [तु] किंतु *(रागेण य बज्झेदि)* राग से बंधता है *(तम्हा)* इसलिए *(खेयण!)* हे जीव! *(तं मुंचह)* उसे छोड़ो।

अर्थ- हे जीव! पर से बंध नहीं होता है और न ज्ञानस्वभाव से ही बंध होता है, अपितु राग से बंध होता है, इसलिए उस राग को छोड़ो।
व्याख्या- पर-पदार्थों से अर्थात् अन्य व्यक्ति या वस्तुओं से कर्मबंध नहीं होता, और न ही निज ज्ञानस्वभाव से ही बंध होता है। क्योंकि यदि वस्तुओं से बंध माना जाए तो वीतरागी मुनियों को भी बंध होगा और यदि ज्ञान से बंध माना जाए तो सिद्धों के भी बंध होगा? अतः यह सुनिश्चित है कि वस्तुएँ या ज्ञान बंध का कारण नहीं है, अपितु जो राग सहित ज्ञान (अध्यवसान) है, उससे बंध होता है, अतः हे जीव! तुम ज्ञानस्वभाव का आश्रय करो और राग भाव से ज्ञान के एकत्व का त्याग करो।

निज-स्वरूप की शरण लो

सरणं स-सरूवस्स, गहणं कज्जं इणं कुणह सेट्ठं।
जदि इत्तियं पि सिज्झदि, तो सिज्झंति हि असेसयं कज्जं॥७८॥

अन्वयार्थ- *(स-सरूवस्स सरणं गहणं)* स्व-स्वरूप की शरण ग्रहण *(इणं)* इस *(सेट्ठं)* श्रेष्ठ *(कज्जं कुणह)* कार्य को करो *(जदि इत्तियं पि सिज्झदि)* यदि इतना ही सिद्ध हो गया *(तो)* तो *(असेसयं कज्जं)* संपूर्ण कार्य *(हि)* निश्चित ही *(सिज्झंति)* सिद्ध हो जाते हैं।
अर्थ- स्व-स्वरूप की शरण ग्रहण रूप इस श्रेष्ठ कार्य को करो, यदि इतना यह सिद्ध हो जाता है तो सभी कार्य निश्चित ही सिद्ध हो जाते हैं।
व्याख्या- हे जीव! निजात्म-स्वरूप की शरण ग्रहण करो, क्योंकि निजात्मा के आलंबन से ही विशुद्धि, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, संवर, निर्जरा व मोक्ष आदि गुण प्रकट होते हैं। तुम केवल वर्तमान में स्वरूप की शरण लो, बाकी सारे कार्य स्वतः सिद्ध हो जाते है।

साधकतम कारण की विशुद्धि का हेतु होने से अरिहंत, सिद्ध, साधु व जिनोपदिष्ट धर्म भी शरणभूत है, किंतु कब तक? जब तक आत्म-स्थिरता नहीं बन पा रही है। इस जीव का पुरुषार्थ केवल वर्तमान की एक समय वाली पर्याय पर ही चल सकता है, वह भी निजभावों पर, अतः आत्मकेन्द्रित होकर हर वर्तमान समय में आत्मानुभव करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जो दिखता, सो मैं नहीं

जो दिस्सदि ण वि सो हं, अहं तु णिच्चं अमुत्त-मविगारं।
णादा-दिट्ठा चेदा णिच्छयदो असेसं च ववहारो ॥७६॥

अन्वयार्थ- (जो दिस्सदि ण वि सो हं) जो दिखता है वह मैं नहीं हूँ *(तु)* किंतु *(णिच्छयदो)* निश्चय से *(अहं)* मैं *(णिच्चं अमुत्त-मविगारं णादा-दिट्ठा चेदा)* नित्य, अमूर्त, अविकार, ज्ञाता-दृष्टा, चेता हूँ *(असेसं च ववहारो)* शेष सब व्यवहार है।

अर्थ- जो दिखता है वह मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो निश्चय से अमूर्त, अविकार, ज्ञाना-दृष्टा, चेता हूँ, शेष सब व्यवहार है।

व्याख्या- जो-जो कुछ पौद्गलिक पदार्थ इन चर्मचक्षुओं से दिखते हैं, मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय पुद्गल द्रव्य की संरचना है। मैं तो ध्रुवदृष्टि से अमूर्त, अविकार, ज्ञाता-दृष्टा, चेतन द्रव्य हूँ। शेष देह, वचन आदि पदार्थ व्यवहार से जीव के कहे जाते हैं।

मोक्षपाहुड (२९) तथा समाधितंत्र (१८) में इस आशय की एक गाथा आई है। प्रवचनसार की सुप्रसिद्ध गाथा में भी कहा है-

अरस-मरूव-मगंधं, अव्वत्तं चेयणागुण-मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिदिट्ठ संठाणं ॥१७२॥

आत्मरूप के बोध से त्याग स्वयं होता है

अप्परूवस्स बोहे, चागो सहजं सयं च पयडेदि।
सयलसंगचागेण, जीवो य सयं खु सिज्झेदि ॥७७॥

अन्वयार्थ- (अप्परूवस्स बोहे) आत्मरूप का बोध होने पर *(चागो सहजं सयं च पयडेदि)* त्याग सहज स्वयं ही प्रकट होता है *(य)* तथा *(सयलसंगचागेण)* सकल संग त्याग से *(जीवो)* जीव *(सयं खु सिज्झेदि)* स्वयं ही सिद्ध होता है।

अर्थ- जीव को आत्मस्वरूप का बोध होने पर त्याग स्वयं ही सहज प्रगट होता है तथा सकल-संग के त्याग से जीव स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या- 'त्याग करने का नहीं, त्याग होने का महत्व है।' त्याग करना मतलब कर्तृत्व बुद्धि से वस्तु का त्याग करना, उसके अभाव में संक्लेश रूपभाव संभव है, किन्तु त्याग होने का मतलब वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध होने पर परपदार्थ का अन्यरूप श्रद्धान तथा उसके ग्रहण का अभाव इसके साथ गुरुसाक्षी पूर्वक पाप व पदार्थों के त्याग का संकल्प भी आवश्यक है।

यह ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा मेरी है, शेष सब अन्य है; ऐसा भेदज्ञान होने पर संपूर्ण बाह्य पदार्थ व अंतरंग विभाव तथा कर्म-समूह का स्वतः ही त्याग होता है। ऐसा होने पर यह जीव स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। आत्मसिद्धि के लिए कहीं से कुछ लाना-जोड़ना नहीं है, अपितु आत्मकेन्द्रित होना है। सो यह कार्य यदि लक्ष्य दिया जावे तो बहुत कठिन नहीं है।

आत्मरूप के बोध से साम्य प्रगटता है

जाणदि जदा सहावं, जीवो पावदि य सेट्ठ-संतोसं।
तदा सरूवे चेट्ठदि, तेण दु पावेदि सिद्धत्तं ॥७८॥

अन्वयार्थ- (जीवो) जीव *(जदा सहावं जाणदि)* जब स्वभाव को जानता है *(तदा)* तब *(सेट्ठ-संतोसं)* श्रेष्ठ संतोष *(पावदि)* पाता है *(य)* और *(सरूवे चेट्ठदि)* स्वरूप में चेष्टा करता है *(तेण दु सिद्धत्तं पावेदि)* उससे सिद्धत्व प्राप्त करता है।

अर्थ- जब जीव निज स्वभाव को जानता है तब श्रेष्ठ संतोष पाता है, जिससे स्वरूप में चेष्टा होती है और उससे सिद्धत्व प्राप्त होता है।

व्याख्या- यह जीव जब सम्यक् प्रकार से निज ज्ञायक स्वभाव को जानता है, तब पर-पदार्थों के कारण होने वाली आकुलता के मिटने से अत्यंत साम्यभाव को प्राप्त करता है, पर में एकत्व व आसक्ति न रहने से संतोष को प्राप्त होता है। स्थिरता रूप संपूर्ण संतोष की प्राप्ति के लिए निजस्वरूप में चेष्टा करता है। जिससे यह जीव सिद्धत्व को पाता है।

सभी द्रव्यों के गुण-पर्याय, कार्य पृथक-पृथक हैं। इस तथ्य को

भली प्रकार जान लेने से पर वस्तु में फेर-फार करने की बुद्धि नष्ट हो जाने से आकुलता नष्ट हो जाती है। आकुलता नष्ट होने से आस्रव-बंध नष्ट हो जाता है, संवर-निर्जरा शुरू हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है।

वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है

उप्पज्जदि सो णस्सदि, पज्जय-रूवेण चेदणं इदरं।
तम्हा रागं मुंचह, विराग-संतोसं च धारेज्ज ॥७९॥

अन्वयार्थ- (पज्जयरूवेण) पर्यायरूप से *(चेदणं इदरं)* चेतन-अचेतन [जो] *(उप्पज्जदि)* उत्पन्न होता है *(सो णस्सदि)* वह नष्ट होता है *(तम्हा)* इसलिए *(रागं मुंचह)* राग को छोड़ो *(विराग-संतोसं च धारेज्ज)* वैराग्य व संतोष को धारण करो।

अर्थ- पर्यायरूप से जो चेतन-अचेतन पदार्थ उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता है, इसलिए राग को छोड़कर वैराग्य व संतोष धारण करो।

व्याख्या- विश्व में छह द्रव्य व्याप्त हैं। द्रव्यों में गुण व पर्याय रहते हैं। बिना द्रव्य के गुण, बिना गुण के द्रव्य, बिना पर्याय के द्रव्य-गुण व बिना गुण के द्रव्य-पर्याय नहीं होती है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिपल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यत्व जारी है।

पर्यायरूप से जो-जो नया उत्पन्न होता है, वह नाश को अवश्य प्राप्त होता है, क्योंकि किसी भी द्रव्य की कोई भी पर्याय शाश्वत नहीं है। इसलिए पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करो। पर पदार्थों के राग को छोड़ो और उदासीनता धारण करो।

राग-द्वेष से सुख-दुःख स्वयं भोगता है

कं अत्थि तुमदु णेहो ? तुज्झ य चिंता वियप्प कं अत्थि ?।
किच्चा रागद्देसं, सयं पि भुंजेसि सुह-दुक्खं ॥८०॥

अन्वयार्थ- (कं अत्थि-तुमदु णेहो) तुमसे किसको स्नेह है *(य)* और *(कं)* किसको *(तुज्झ)* तेरा *(चिंता वियप्प अत्थि)* चिंताविकल्प है *(सयं)* स्वयं *(रागद्देसं किच्चा) राग-द्वेष करके (सुह-दुक्खं)* सुख-दुःख *(भुंजेसि)* भोगता है।

अर्थ- हे जीव! किसको तुमसे स्नेह है और किसको तेरी चिंता है? तू स्वयं ही राग-द्वेष करके सुख-दुःख भोगता है।

व्याख्या- वस्तुतः किसी को किसी से स्नेह नहीं हैं। किसी को किसी की चिंता नहीं है। अपने-अपने स्वार्थवश कार्य सिद्धि हेतु एक-दूसरे से राग देखा जाता है। प्रत्येक जीव ध्रुव-दृष्टि से आनंदस्वरूप है किंतु स्वभाव की विस्मृति होने से राग-द्वेष करता है। यह जब राग-द्वेष त्याग कर स्व-स्वरूप में रमें तब वास्तविक सुख हो। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चारित्र धारण करे तब स्थिरता प्राप्त हो।

तत्त्वज्ञान सारभूत है

जोव्वण-सत्ती अरुग्गं, बुद्धी य बलं च माणुसं सारं।
तेसिं पि परं सारं, सुतच्चणाणं च आयारं॥८१॥

अन्वयार्थ- (जोव्वण-सत्ती अरुग्गं बुद्धी य बलं) यौवन शक्ति, आरोग्यता, बुद्धि और बल *(माणुसं सारं)* मनुष्य जीवन का सार है *(तेसिं पि परं सारं)* उसमें भी परमसार *(सुतच्चणाणं च आयारं)* सुतत्त्वज्ञान व आचार है।

अर्थ- यौवनशक्ति, आरोग्य, बुद्धि और बल मनुष्यजीवन का सार है, उसमें भी परमसार श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान व आचरण है।

व्याख्या- मनुष्य पर्याय में युवावस्था की शक्ति, स्वस्थता, बुद्धि की विशेषता और शारीरिक बल सारभूत कहे गए हैं, किंतु यह सब होने के बाद भी तत्त्वज्ञान व आचरण के बिना ये निरर्थक हैं। ज्ञान वही तत्त्वज्ञान है, जिससे जीवन में संयम व स्थिरता की वृद्धि होती हो। तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप का वास्तविक बोध। मनुष्य पर्याय की श्रेष्ठता बतलाते हुए कार्त्तिकियानुप्रेक्षा में लिखा है-

मणुवगदीए झाणं, मणुवगदीए महव्वदं सयलं।
मणुवगदीए वि तवो, मणुवगदीए वि होदि णिव्वाणं॥

अर्थात् इस मनुष्यगति में ही ज्ञान, सकल महाव्रत, श्रेष्ठ तप व मनुष्यगति में ही निर्वाण संभव है, अन्यत्र नहीं।

केवल पाठ करने से लाभ नहीं

पाठो ण करेदि गुणं, लेहो सिस्सादि य खादि वक्खाणो।
साणुहव णणेण, कल्लाणं होंति जीवाणं ॥८२॥

अन्वयार्थ- (पाठो) पाठ *(लेहो सिस्सादि य खादी वक्खाणो)* लेख, शिष्यादि, ख्याति या व्याख्यान *(ण करेदि गुणं)* गुणकारी नहीं है [क्योंकि] *(जीवाणं)* जीवों का *(कल्लाणं)* कल्याण *(साणुहव णणेण होंति)* स्वानुभव ज्ञान से होता है।

अर्थ- केवल पाठ, लेख, शिष्यादि, ख्याति अथवा व्याख्यान गुणकारी नहीं है, क्योंकि जीवों का कल्याण स्वानुभव ज्ञान से होता है।

व्याख्या- आत्मानुभव के बिना मात्र पाठ करने से, ग्रंथ कंठस्थ कर लेने से, सुंदर लेख (पुस्तकें) लिख लेने से , दिग्गज शिष्यों की लंबी पंक्ति से अथवा अत्यंत प्रभावक व्याख्यान (प्रवचन) दे लेने से ही जीव का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मकल्याण की शुरुआत तो स्वानुभव ज्ञान से होती है। इसलिए आत्मकल्याणेच्छुओं को आत्मानुभूति की ओर लक्ष्य देना चाहिए।

विषय-कषायों को जीतो

दम-समदा सत्थेण य, विसय-कसायं जयेज्ज सुभडव्व।
बोही य समाहीए, तरेज्ज भवसायरं घोरं ॥८३॥

अन्वयार्थ- (दम-समदा सत्थेण य) दमन व समतारूपी शस्त्र से *(सुभडव्व)* सुभट के समान *(विसय-कसायं जयेज्ज)* विषय-कषायों को जीतो *(य)* और *(बोही समाहीए)* बोधि व समाधि से *(घोरं भवसायरं तरेज्ज)* घोर भवसागर तरो।

अर्थ- दमन व समतारूपी शस्त्र से सुभट के समान विषय-कषायों को जीतो और बोधि तथा समाधि से संसार सागर तर जाओ।

व्याख्या- पंचेन्द्रिय दमन करने से, मन को वश में करने से विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त होती है तथा समता भाव धारण करने से कषाएँ जीती जाती हैं। अत: यहाँ ऐसा अलंकार किया है कि शमन व दमन रूपी शस्त्र से विषय व कषायरूपी सेना को जीतो। रत्नत्रयरूप बोधि तथा साम्यभावरूप

समाधि के बल से भयंकर संसार रूपी समुद्र को तर जाओ, पार कर लो।

आचार्य कुंदकुंद देव ने प्रवचनसार (७) में चारित्र को ही धर्म कहा है। धर्म समभाव से युक्त है और समभाव मोह तथा क्षोम से रहित परिणामों की स्थिरता को कहा है। ऐसे चारित्र से ही जीव को स्वात्मोपलब्धि होती है और स्वात्मोपलब्धि ही सिद्धि है।

साम्यभाव उत्कृष्ट चारित्र है

उक्किट्ठ चारित्तं, समदा मोक्खस्स अत्थि आधारो।
समदा जेण य सिद्धं, पावदि सो सासदं सोक्खं॥८४॥

अन्वयार्थ- (समदा) समता *(उक्किट्ठ चारित्तं)* उत्कृष्ट चारित्र है *(मोक्खस्स आधारो अत्थि)* मोक्ष का आधार है *(य)* और *(जेण)* जिसने *(समदा सिद्धं)* समता साध ली *(सो)* वह *(सासदं सोक्खं)* शाश्वत सुख को *(पावदि)* पाता है।

अर्थ- समता उत्कृष्ट चारित्र है, मोक्ष का आधार है और जिसने समता साधली, वह शाश्वत सुख को पाता है।

व्याख्या- भेदविज्ञान पूर्वक जो साम्यभाव प्रगट होता है, वह जीव की मोह व क्षोभ से रहित वीतराग अवस्था है। यह वीतरागता ही मोक्ष का आधार है, विषय-कषायों से ग्रसित व्यक्ति नहीं। जिसने सम्यक्समता को भली प्रकार सिद्ध कर लिया है, वह शाश्वत सुखधाम मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए समता-साधने का प्रयत्न प्रत्येक आत्मार्थी को करना चाहिए।

परद्रव्य में नहीं ज्ञान में सुख है

परदव्वे णत्थि सुहं, इंदिय-दारेहिं भासदे सुक्खं।
णाणसरूवे हि सुहं, सो जीवस्स णियगुणं अत्थि॥८५॥

अन्वयार्थ- (परदव्वे णत्थि सुहं) परद्रव्य में सुख नहीं है, *(इंदिय-दारेहिं)* इंद्रिय द्वारों से *(सुक्खं भासदे)* सुख भासता है *(णाणसरूवे हि सुहं)* ज्ञानस्वरूप में ही सुख है, *(सो)* वह *(जीवस्स णियगुणं अत्थि)* जीव का निजगुण है।

अर्थ- परद्रव्य में सुख नहीं है, इंद्रियों से सुख भासता है। वस्तुतः सुख तो ज्ञान स्वरूप में है, क्योंकि वह जीव का निजगुण है।

व्याख्या- इंद्रिय द्वारों से पर-पदार्थों के ग्रहण करने पर जो सुख महसूस होता है, वस्तुतःवह वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु सुख गुण तो जीव का निजगुण है। परपदार्थो में रागयुक्त प्रवृत्ति होने पर सुख तथा द्वेषयुक्त प्रवृत्ति होने पर दुःख भाषित होता है। ये सुख व दुःख दोनों आत्मा के सुखगुण की वैभाविक पर्यायें है। आत्मानुभव अथवा अरहंत-सिद्ध दशा का सुख स्वाभाविक पर्याय है।

यह जीव जब तक पर-पदार्थो से सुख-दुःख की मान्यतारूप बुद्धि का त्याग नहीं करता, तब तक मिथ्यादृष्टि होने से आत्मोत्थ सुख का वेदन नहीं कर सकता। यह सुखगुण जीव का स्वभाव है, ऐसी बुद्धि होने पर आत्मानुभूति के काल में अतीन्द्रिय आनंद अनुभव में आता है ।

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है

जे एगं जाणेंति हि, णादा-दिट्ठा य सुहमयं आदं।
ते सव्वं जाणेंति दु, आदपधाणो जिणक्खादं ॥८६॥

अन्वयार्थ- (हि) वस्तुतः *(जे एगं)* जो एक *(णादा-दिट्ठा य सुहमयं आदं)* ज्ञाता-दृष्टा, सुखमय आत्मा को *(जाणेंति)* जानते हैं *(ते सव्वं जाणेंति)* वे सब जानते हैं *(दु) क्योंकि (जिणक्खादे)* जिनेन्द्र के कथन में *(आदपधाणो)* आत्मा प्रधान है।

अर्थ- निश्चय से जो महानुभाव एक ज्ञाता-दृष्टा सुखमय आत्मा को जानते हैं, वे सब जानते हैं, क्योंकि जिनेन्द्र के कथन में आत्मा प्रधान है।

व्याख्या- छह द्रव्यों के सम्यग्ज्ञान पूर्वक हेय-उपादेय का बोध रखने वाले जो महानुभाव एक निज ज्ञाता-दृष्टा, सुखमय आत्मा को जानते हैं, वे सब जानते हैं। क्योंकि एक तो उन्होंने श्रुतज्ञान के बल से षट्द्रव्यों को भली प्रकार जानकर उसमें से निज ज्ञायक आत्मतत्त्व को ग्रहण किया है। दूसरे जिनेन्द्र देव के कथन में आत्मा ही प्रधानभूत है, सो उस आत्मतत्त्व के ज्ञायक होने से वे सब जानते हैं, ऐसा कहा गया है।

जो अनेक ज्ञेयों (शास्त्रों) को जानता हुआ भी यदि निज ज्ञायक आत्मा को नहीं जानता है, तो उसका वह जानना, न जानने के बराबर ही है। अष्टप्रवचन-मातृका का ज्ञान रखने वाला आत्मज्ञानी भी सिद्ध हो जाता है, जबकि आत्मबोध के अभाव में ग्यारह अंग का पाठी भी संसार में भटकता रहता है।

देह व धन में राग हो तो आत्मचिंतन करो

देहे धणे य रागो, जदा हवेज्ज तदा विचिंतेह।
असरण-मसासदं वा, अहमेक्को सासदो अप्पा॥८७॥

अन्वयार्थ- (देहे धणे य रागो जदा हवेज्ज) देह व धन पर राग जब हो *(तदा)* तब [ये] *(असरण-मसासदं वा)* अशरण वा अशाश्वत है [जबकि] *(अहमेक्को सासदो अप्पा)* मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ [ऐसा] *(विचिंतेह)* चितवन करो।

अर्थ- देह या धन पर जब राग हो, तब ऐसा विचारो कि ये अशरण व अशाश्वत हैं; जबकि मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ।

व्याख्या- स्व अथवा पर शरीर तथा धनादि पर जब राग हो तब यह विचार करो कि ये सब पुद्गल की संरचनाएं हैं। ये न तो स्वयं शरण-भूत हैं और न शरण देने में सक्षम। ये निरंतर विनाशशील अशाश्वत है, जबकि मैं स्वयं के लिए शरणभूत तथा शाश्वत आत्मतत्त्व हूँ। जब मैं धन या देहादि हूँ ही नहीं, तब उन पर ममत्व भी क्या करना; ऐसा विचार करो।

निजभावों से जीव का बंध-मोक्ष

भववड्ढी भवहाणी, णियल्लभावेण होदि बंधो वा।
रयणत्तय भावेण दु, जीवो मोक्खं च पावेदि॥८८॥

अन्वयार्थ- (णियल्लभावेण) निज के भावों से *(भववड्ढी भवहाणी)* भववृद्धि भवहानी *(वा)* अथवा *(बंधो)* बंध *(होदि)* होता है *(दु)* किंतु *(रयणत्तय भावेण)* रत्नत्रय भाव से *(जीवो मोक्खं च पावेदि)* जीव मोक्ष पाता है।

अर्थ- जीव निजभावों से भववृद्धि, भवहानि अथवा बंध करता है, किंतु रत्नत्रयात्मक भावों से मोक्ष पाता है।

व्याख्या- यह जीव निज के संक्लेश रूप अशुभभावों से अशुभकर्मों का बंध करके अशुभ फलरूप भववृद्धि कर लेता है। विशुद्धि रूप शुभभावों से शुभकर्मों का बंध करके शुभ फल रूप भव हानि अर्थात् संसार की अल्पता कर लेता है। इन शुभाशुभ भावों से यह जीव हीनाधिक रूप में कर्मबंध ही करता है। जबकि निश्चय-रत्नत्रयात्मक भाव से यह जीव मोक्ष पाता है।

योग व कषायों को छोड़ो

जदि णो इच्छसि बंधं, जोग-कसायं च विभावणं मुंच।
इच्चेव जदि सिज्झदि, तो सिज्झज्जीय सयलकज्जं ॥८९॥

अन्वयार्थ- (जदि) यदि *(बंधं)* बंध को *(णो इच्छसि)* नहीं चाहते हो [तो] *(जोग-कसायं च विभावणं मुंच)* योग और कषायरूप विभावों को छोड़ो *(जदि)* यदि *(इच्चेव)* इतना यह *(सिज्झदि)* सिद्ध हो जाता है, *(तो)* तो *(सयलकज्जं)* समस्तकार्य *(सिज्झज्जीय)* सिद्ध हो जाएंगे।

अर्थ- हे जीव! यदि तुम बंध को नहीं चाहते हो तो योग व कषायरूप विभावों को छोड़ो। यदि यह इतना कार्य सिद्ध हो जाता है तो समस्तकार्य सिद्ध हो जाएंगे।

व्याख्या- हे चैतन्यात्मन! यदि तुम ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध से बचना चाहते हो, तो मन, वचन, कायरूप योगों की चंचलता तथा क्रोध, मान, माया, व लोभ युक्त भावों की मलिनतारूप कषायों का त्याग करो। क्योंकि कषायों से रंजित चित्त वाला मनुष्य तत्त्व को नहीं जानता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि काले कपड़े पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। यदि योग व कषाय भावों के त्यागरूप यह कार्य सिद्ध हो गया, तो संवर, निर्जरा व मोक्षादि कार्य स्वयं सिद्ध हो जाएँगे।

भूत भविष्य नहीं, वर्तमान में जियो

आदा! गदं ण चिंतह, अणागदं वि णो किंचि चिंतेज्जा।
णाणमए भावेसु य, रमेज्ज णिच्चं विगद संकप्पा॥९०॥

अन्वयार्थ- *(आदा!)* हे आत्मन्! *(गदं ण चिंतह)* गए हुए की चिंता न करो *(अणागदं वि णो किंचि चिंतेज्जा)* भविष्य की भी किंचित् चिंता मत करो *(य)* और *(विगद संकप्पा)* संकल्परहित होकर *(णाणमए भावेसु)* ज्ञानमय भाव में *(णिच्चं)* नित्य *(रमेज्ज)* रमण करो।

अर्थ- हे चैतन्य! बीते हुए की चिंता मत करो, भविष्य की भी कुछ चिंता न करो अपितु संकल्प रहित होकर ज्ञानमय निजभावों में नित्य रमो।

व्याख्या-जो बीत गया वह सपना है, जो भविष्य है वह कल्पना है; एक वर्तमान समय ही अपना है। क्योंकि बीते हुए काल में जो कुछ हो चुका है, उसमें कुछ भी फेर-फार नहीं किया जा सकता है। भविष्य की सिर्फ योजनाएँ बनाई जा सकती हैं, होगा वहीं जो द्रव्य-क्षेत्र-कालादि की अपेक्षा रखते हुए निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध होंगे। किंतु वर्तमानकाल की एक समयवर्ती जो पर्याय है, वह हमारे हाथ में है; उसमें हम जैसे चाहे वैसे भाव करके भविष्य में भी परिवर्तन कर सकते हैं। इसलिए भूत का कभी जिक्र न करो, भविष्य की फिक्र न करो; और वर्तमान को नष्ट न करो।

भूतकाल की वैराग्यप्रद, आत्मकल्याणकारी वस्तु अथवा व्यक्तियों का, अपनी दीक्षा काल की आत्मपरिणति का अथवा शुभसंयोगों का स्मरण भी उचित है। भविष्य की श्रेष्ठ भावनाएँ, आत्मकल्याण की उत्कृष्ट योजनाएँ भी निषेधनीय नहीं हैं। यहाँ तो व्यर्थ के संकल्प-विकल्प त्याग कर ज्ञानमय निजभावों में नित्य रमण करने की प्रेरणा दी गई है।

इच्छा ही आकुलता है

पंचेंदिय विसयाणं, जा इच्छा सा हि अत्थि वाउलदा।
वाउलदा चिय दुक्खं, तत्तो खेदं वा आयरदि॥९१॥

अन्वयार्थ- (पंचेंदिय विसयाणं जा इच्छा) पंचेन्द्रिय विषयों की जो इच्छा है *(सा हि वाउलदा अत्थि)* वह ही व्याकुलता है *(वाउलदा चिय दुक्खं)* व्याकुलता ही दुःख है *(तत्तो) उससे (खेदं वा)* खेद अथवा हर्ष *(आयरदि)* आचरण करता है।

अर्थ- पंचेन्द्रिय-विषयों की जो इच्छा है, वह व्याकुलता है और व्याकुलता ही दुःख है, उससे यह जीव खेद या हर्षरूप आचरण करता है।

व्याख्या- स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय-विषयों की सामग्री की प्राप्ति संरक्षण, संवर्द्धन व भोगने की जो इच्छा है, वह व्याकुलता है। यह व्याकुलता दुःख ही है। इससे अज्ञानतावश मोही जीव दुःख या प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ खेद अथवा हर्षरूप वर्तता है। अपने सुख स्वभाव पर कुछ भी दृष्टि नहीं देता, जबकि सुख वस्तुओं में नहीं निजात्मा में ही है।

खेद व हर्ष को छोड़ो

चत्ता खेद-हरिस्सं, णियप्परूवस्स पुण विचिंतेज्जा।
किं आसि किं होहिमि, अप्पसरूवं च विसरित्ता॥९२॥

अन्वयार्थ- (खेद-हरिस्सं चत्ता) खेद-हर्ष को छोड़कर *(पुण)* पुनः *(णियप्परूवस्स)* निजात्मरूप का *(विचिंतेज्जा)* चिंतन करो [कि] *(अप्पसरूवं)* आत्मस्वरूप को भूलकर *(किं आसि)* क्या था *(च)* और *(किं होहिमि)* क्या होऊँगा?

अर्थ- हे जीव! खेद व हर्षकारक व्याकुलता को छोड़कर निजात्मस्वरूप का विचार करो, विचारो कि आत्मस्वरूप को भूलकर मैं क्या था और क्या होऊँगा।

व्याख्या- हे चैतन्य प्रभु आत्मन्! पंचेन्द्रिय विषयों की हर्ष या खेद कारक व्याकुलता को छोड़कर निजात्मस्वरूप का चिंतन करो। क्योंकि पंचेन्द्रियों के भोग जब तक न मिलें तब तक तो आकुलता रहती ही है, प्राप्त हो जाने पर, भोगते समय भी आकुलता रहती है। जबकि आत्मस्वभाव में सदा अनाकुलता ही है। आकुलता हमारे अज्ञान की संतान है। अनाकुलता

वाले आत्मस्वरूप को भूलकर यह जीव क्या-क्या नहीं बना? और भविष्य में क्या-क्या नहीं बनेगा? इसका विचार करो।

हे जीव! यदि तुम भूत की दुःखदायक अवस्थाओं का विचार कर भविष्य में सुख चाहते हो, तो वर्तमान में नित्य ही आत्मस्वरूप का लक्ष्य करो।

आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है

धण-धण्णादि अण्णा, इत्थी पुत्तादि कुडुंब संबंधा।
अण्णो देहो कम्मं, अप्पा णाणादि भाव संपण्णो ॥९३॥

अन्वयार्थ- (धण-धण्णादि) धन-धान्यादि *(इत्थी पुत्तादि कुडुंब संबंधा)* स्त्री पुत्रादि कुटुब संबंध *(अण्णा)* अन्य हैं *(अण्णो देहो कम्मं)* देह व कर्म अन्य हैं [जबकि] *(अप्पा णाणादि भाव संपण्णो)* आत्मा ज्ञानादि भाव वाला है।

अर्थ- धन-धान्यादि, स्त्री पुत्रादि कुटुम्बसंबंध तथा देह व कर्म भी आत्मा से अन्य हैं, क्योंकि आत्मा ज्ञानादिगुणों से संपन्न है।

व्याख्या- धन-धान्य आदि पुद्गल द्रव्य ज्ञान रहित होने से अजीव हैं, स्त्री-पुत्रादि जीव व अजीव के मिश्र रूप होने से असमानजातीय पर्याय वाले हैं, यह देह व कर्म भी आत्मा से भिन्न पुद्गल की संरचना हैं। अतः उपरोक्त सभी इस जीवात्मा से अत्यंत पृथक पदार्थ हैं, जबकि यह आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुखादि अनंत गुणों को गोदाम है। इसलिए निजात्मद्रव्य में एकत्व करके पर-पदार्थों से होने वाली आकुलता का त्याग करो। वस्तु-तत्त्व का भेदज्ञान होने पर आकुलता स्वयमेव मिट जाती है।

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि सम्यग्दर्शन है

परदव्वादो भिण्णं, अप्पसरूवस्स जो रुची अत्थि।
सो णिच्छय सम्मत्तं, ववहारो पंचगुरु भत्ती ॥९४॥

अन्वयार्थ- (परदव्वादो भिण्णं) परद्रव्य से भिन्न *(अप्पसरूवस्स)* आत्मस्वरूप की *(जो रुची अत्थि)* जो रुचि है *(सो)* वह *(णिच्छय सम्मत्तं)* निश्चय सम्यक्त्व है *(पंचगुरु भत्ती)* पंचगुरुभक्ति *(ववहारो)* व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

अर्थ- परद्रव्यों से भिन्न आत्मस्वरूप की जो रुचि है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा पंचगुरुभक्ति व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

व्याख्या- षट्द्रव्यों का भली प्रकार बोध करके उनमें से निज आत्मतत्त्व की पहचान कर उस ही में रुचि करना। मैं ज्ञायक स्वभाव वाला आत्मा हूँ, ऐसी श्रद्धा से विचलित न होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। पंच परमेष्ठी की भक्ति तथा अनुकंपा आदि गुणों का होना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

निजज्ञान स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान है

मुत्ता सयलपदत्थं, णादूण य णाणमेव णियभावं।
णाणसरूव-णियप्पं, णाणब्भासेण पावेज्जा ॥९५॥

अन्वयार्थ- *(सयलपदत्थं मुत्ता)* सकल पदार्थों को छोड़कर *(य)* और *(णाणमेव णियभावं)* ज्ञान को ही निजभाव *(णादूण)* जानकर *(णाणसरूव-णियप्पं)* ज्ञानस्वरूप निजात्मा को *(णाणब्भासेण पावेज्जा)* ज्ञानाभ्यास से प्राप्त करो।

अर्थ- समस्त पदार्थों को छोड़कर और ज्ञान को ही निजस्वभाव जानकर ज्ञानस्वरूप निजात्मा को ज्ञानाभ्यास से प्राप्त करो।

व्याख्या- पुद्गलादि तथा अन्य जीव पदार्थों को छोड़कर ज्ञान-दर्शनादि गुणों को ही निज स्वभाव जानकर निजात्मा को ही ज्ञानाभ्यास के बल से प्राप्त करो। यह ही निश्चय से सम्यग्ज्ञान है। व्यवहार से स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा आदि को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

राग-द्वेष का त्याग सम्यक्चारित्र है

वत्थूणं जाणंतं, उप्पादव्वय धुवत्त-संजुत्तं।
रागद्देस विजहणं, सम्मचरित्तं च जाण णिच्छयदो ॥९६॥

अन्वयार्थ- *(उप्पादव्वय धुवत्त-संजुत्तं)* उत्पाद व्यय ध्रुवत्व संयुक्त *(वत्थूणं जाणंतं)* वस्तुओं को जानते हुए *(रागद्देस विजहणं)* राग-द्वेष त्यागना *(णिच्छयदो)* निश्चय से *(सम्मचरित्तं च जाण)* सम्यक्चारित्र जानो।

अर्थ- उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य संयुक्त समस्त वस्तुओं को जानते हुए भी राग-द्वेष का त्याग करना निश्चय से सम्यक्चारित्र है।

व्याख्या- वस्तु की नई पर्याय की उत्पत्ति होना उत्पाद है, पुरानी पर्याय का नाश होना व्यय है तथा वस्तु का वस्तुरूप से बने रहना ध्रौव्य है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त वस्तुओं को जानते हुए भी राग-द्वेष का त्याग करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्रत-संयम आदि धारण करना व्यवहार चारित्र है।

रत्नत्रय जयवंत हो

भव-भुयग णागदमणी, दुक्ख-महादावसमण जलवुट्ठी।
मुत्ती सुहामिद जलही, जयदु य रयणत्तयं सम्मं ॥९७॥

अन्वयार्थ- (भव-भुयण णागदमणी) भवभुजग नागदमनी, *(दुक्ख महादावसमण जलवुट्ठी)* दुःख महातापसमन जलवृष्टि *(य)* और *(मुत्ती सुहामिद जलही)* मुक्ति सुखामृत जलधि *(सम्मं)* सम्यक् *(रयणत्तयं)* रत्नत्रय *(जयदु)* जयवंत हो।

व्याख्या- जो संसार रूपी सर्प के लिए निर्बिष करने में नागदमनी के समान है, दुःखरूपी महाताप को शांत करने में शीतल जलवृष्टि के समान है तथा मुक्तिसुखरूपी अमृत की उत्पत्ति के लिए जो समुद्र के समान है, ऐसा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का एकत्रित रूप रत्नत्रय जयवंत होवे।

मोक्ष के लिए यह करो

दुक्खं सह जिदणिद्दं, थोवो भुंजेह मा बहु जंप।
झाणज्झयणे य रदी, कुणिज्ज णिच्चं विमोक्खस्स ॥९८॥

अन्वयार्थ- (विमोक्खस्स) मोक्ष के लिए *(दुक्खं सह)* दुःख सहो *(णिद्दं जिद)* निद्रा को जीतो *(थोवो भुंजेह)* थोड़ा खाओ *(मा बहु जंप)* बहुत मत बोलो *(च)* और *(णिच्चं)* नित्य *(झाणज्झयणे रदि कुणिज्ज)* ध्यान-अध्ययन में रति करो।

अर्थ- मोक्ष प्राप्ति के लिए दुःखों को सहो, निद्रा को जीतो, भोजन थोड़ा जीमो, बहुत मत बोलो और निरंतर ध्यान-अध्ययन में रत रहो।

व्याख्या- सहजता से प्राप्त किया गया ज्ञान दुःख आने पर काम नहीं देता। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए दुःख सहते हुए भी ज्ञान प्राप्त करो, निद्रा कम लो, दिन में मत सोओ, रात में भी सीमित निद्रा लो भोजन सात्विक व सीमित ग्रहण करो, बहुत नहीं बोलो तथा निरंतर ध्यान-अध्ययन में तल्लीन रहो। उपयोग को मैला मत होने दो।

आत्म भावना बिना व्रतादि निरर्थक हैं

जह पत्त विणा दाणं, पुत्त विणा बहुधणं च चित्त विणा।
भत्ती तह आदभावण-विणा, वदादि य णिरत्थयं जाणे॥९९॥

अन्वयार्थ- (जह पत्त विणा दाणं) जैसे पात्र बिना दान *(पुत्त विणा बहुधणं)* पुत्र बिना बहुत धन *(च)* और *(चित्त विणा भत्ती)* चित्त बिना भक्ति है *(तह)* उसी प्रकार *(आदभावण-विणा वदादि य णिरत्थयं जाणे)* आत्मभावना बिना व्रतादि निरर्थक जानो।

अर्थ- जिस प्रकार पात्र बिना दान, पुत्र बिना बहुतधन और चित्त बिना भक्ति निरर्थक है, उसी प्रकार आत्मभावना बिना व्रतादि निरर्थक जानो।

व्याख्या- प्रस्तुत गाथा में भव्यजीवों को आत्मभावना भाने की तीव्र प्रेरणा देते हुए कहा कि यदि तुम निजात्मतत्त्व की भावना नहीं करते हो, तो तुम्हारे व्रत, संयम, तप व अध्ययन आदि उसी प्रकार निरर्थक है, जिस प्रकार मोक्षमार्गी पात्रों के बिना दान, श्रेष्ठ पुत्रके बिना धन-संपदा तथा चित्त के बिना पूजा-भक्ति या जाप्य निरर्थक है। यदि जीवन व व्रत-संयम को सार्थक करना चाहते हो तो आत्मभावना भाओ। वैसे जैनशासन के व्रत-चारित्र का इतना अधिक महत्व है कि यदि अभव्य भी पूरी शक्तिसे धारण-पालन करे, तो वह भी नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है, किंतु ग्रैवेयक की आयु पूर्ण होने पर पुनः संसार परिभ्रमण प्रारंभ हो जाता है।

आत्मानुभव का फल

जो वेददि अप्पाणं, तक्काले हणदि सोग-संतावं।
खविदूण सव्वकम्मं, अंते पावेदि मोक्ख सुहं॥१००॥

अन्वयार्थ- (जो) जो *(अप्पाणं वेददि)* आत्मा का वेदन करता है [वह] *(तक्काले)* तत्काल *(सोग-संतावं)* शोक-संताप को *(हणदि)* नष्ट करता है *(अंते)* अंत में *(खविदूण सव्वकम्मं)* सर्व कर्मों को नष्टकर *(मोक्ख सुहं पावेदि)* मोक्षसुख को पाता है।

अर्थ- जो आत्मा का वेदन करता है, वह तत्काल ही शोक-संताप को नष्ट करता है और अंततः सभी कर्मों को नष्ट कर मोक्षसुख को पाता है।

व्याख्या- समयसारादि आत्मतत्त्व के व्याख्याता विशिष्ट शास्त्रों का नय-निक्षेप पूर्वक अध्ययन करने से जिसे सच्ची समझ प्रगट हुई है। ऐसा ज्ञानी जब आत्मतत्त्व का वेदन करता है, तब तत्काल ही उस काल में उसके शोक व संताप आदि का अभाव होता है। इस आत्मभावना के बल से वह आत्मस्थिरता के काल को बढ़ाता हुआ, अंततः कुछ ही भवों में सर्वकर्मों को नष्ट कर अक्षय सुखधाम निज विमुक्त आत्मा (मोक्ष) को उपलब्ध हो जाता है।

वह सीखो जिससे कर्म क्षय हो

सुदस्स णत्थि अंतो य, आयु-अप्पं बलं पि दुम्मेहा।
तं चेव दु सिक्खेज्जा, जं जर-मरणं खयं कुणदि॥१०१॥

अन्वयार्थ- (सुदस्स णत्थि अंतो) श्रुत का अंत नहीं है *(आयु-अप्पं)* आयु अल्प है *(बलं पि)* बल भी अल्प है *(दुम्मेहा)* मेधा मंद है *(दु)* इसलिए *(तं चेव सिक्खेज्जा)* वह ही सीखो *(जं जर-मरणं खयं कुणदि)* जो जन्म-मरण का क्षय करता है।

अर्थ- श्रुतज्ञान का अंत नहीं है, आयु अल्प है, बल भी अल्प है, मेधा मंद है, इसलिए वह ही सीखो जो जन्म-मरण का क्षय करता है।

व्याख्या- जितने कहने योग्य पदार्थ हैं, उनका अनंतवां भाग भगवान जिनेन्द्र ने कहा है। जितना दिव्यध्वनि में कहा है, उसका अनंतवां भाग शास्त्रों

में लिखा गया है। श्रुतज्ञान की परंपरा में अनेक शास्त्र लुप्त हो गए। कालांतर में अनेक शास्त्र धर्मोन्मादी जनों के द्वारा नष्ट किए गए। इतना सब होने के बाद भी जो सारभूत श्रुत अवशिष्ट है, वह अत्यंत विस्तृत है। इसलिए इस थोड़ी आयु वाले जीवन में, अल्पक्षमता व बुद्धि की मंदता को देखते हुए वह ही ज्ञान (शास्त्र) सीख लेना चाहिए, जो जन्म-मरण का क्षय करता है। शेष व्यर्थ के वचनालाप (थोथे ज्ञान) से क्या लाभ?

यह ग्रंथ स्व-पर के कल्याण के लिए लिखा है

अज्झप्पसारो किदं, णियप्पसुद्धिं जणाण-बोहत्थं।
पागद वित्थारत्थं, इणं सोधयंतु सण्णाणी॥१०२॥

अन्वयार्थ- (णियप्पसुद्धिं) निजात्मशुद्धि *(जणाण-बोहत्थं)* मनुष्यों के बोध *(वा)* तथा *(पागद वित्थारत्थं)* प्राकृत-विस्तार के लिए *(अज्झप्पसारो किदं)* अध्यात्मसार किया गया है *(सण्णाणी)* सम्यग्ज्ञानी *(इणं सोधयंतु)* इसे शोधें।

अर्थ- यह अध्यात्मसार ग्रंथ निजात्मशुद्धि, मनुष्यों के बोध तथा प्राकृतभाषा के विस्तार के लिए लिखा गया है, सम्यग्ज्ञानी विद्वान् इसका शोधन करें।

व्याख्या-जिसमें कुंदकुंद, योगेन्दु, पूज्यपाद आदि महान आचार्यों के ग्रंथों का सार आया है, ऐसा यह अध्यात्मसार नामक ग्रंथ आचार्य श्री आदिसागर जी (अंकलीकर) के पट्टशिष्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी के पट्टाधीश तपस्वी-सम्राट आचार्यश्री सन्मतिसागर जी के शिष्य आचार्य सुनीलसागर जी ने आत्मशुद्धि, भव्यजीवों के बोध तथा शौरसेनी प्राकृतभाषा के विस्तार के लिए लिखा है। शौरसेनी प्राकृत प्राचीन शास्त्रों की मूलभाषा है, इसे जैनों की भाषा भी कह सकते हैं। इस कृति का सम्यग्ज्ञानी विद्वज्जन शोधन करें।

---- o ----

मंगलप्पसत्ती (मंगल प्रशस्ति)

उसहादि-वड्ढमाणं, पज्जंतं गणहराण देवाणं।
केवलि-सुदकेवलिणं, सुदधारी आइरियं वंदे॥१॥

अर्थ- ऋषभदेवादि से वर्द्धमान पर्यन्त सभी तीर्थंकरों के लिए, गणधरदेवों के लिए, केवली-श्रुतकेवली व श्रुतधारी आचार्यों को मैं वंदन करता हूँ।

सूरिं गुणधरसेट्ठं, सुदंसजुत्तं च अप्पझाण रदं।
तेण कीरिदं गंथं, कसायपाहुड-महं वंदे॥२॥

अर्थ- श्रुतांशयुक्त, आत्मध्यान-रत श्रेष्ठ गुणधर सूरि को तथा उनके द्वारा रचित 'कषायपाहुड (पेज्जदोस पाहुड)' ग्रंथ को मैं वंदन करता हूँ।

धरसेणं मुणिणाहं, सुदधारिं अप्परूव सल्लीणं।
सुदस्स चिंताजुत्तं, वंदेऽहं धीर-आइरियं॥३॥

अर्थ- श्रुतधारी, आत्मरूपसल्लीन, श्रुत की चिंतायुक्त धैर्य संपन्न आचार्य धरसेन मुनिनाथ को मैं वंदन करता हूँ।

पुप्फं वा भूदबलिं, सुदपत्तं च विणएण परिपुण्णं।
छक्खंडागम वंदे, तेण कदं गंथरायं च॥४॥

अर्थ- श्रुतप्राप्त व विनय से परिपूर्ण पुष्पदंत तथा भूतबलि आचार्य को और उनके द्वारा रचित ग्रंथराज षट्खंडागम को मैं वंदन करता हूँ।

भव्वकमलाण इंदुं, पवयणसारादि गंथकत्तारं।
अप्पज्झाणे य रदं, वंदामि कुंदकुंद-आइरियं॥५॥

अर्थ- भव्यजीव रूपी कमलों के लिए चंद्रमा के समान, प्रवचनसारादि ग्रंथों के कर्त्ता तथा आत्मध्यान में रत आचार्य कुंदकुंद को मैं वंदन करता हूँ।

कुंदकुंदस्स सिस्सं, गिद्धपिच्छाइरिय णाम संजुत्तं।
तच्चत्थं कत्तारं, गणप्पहाणं च सामिणं वंदे॥६॥

अर्थ- कुंदकुंद देव के शिष्य गृद्धपिच्छाचार्य नाम संयुक्त तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता तथा गणप्रधान उमास्वामी को मैं वंदन करता हूँ।

समंतभद्दं भद्दं, कठ-तित्थयरं च तक्कचक्किं वा।
पढमत्थुदि कत्तारं, वादीगयं च सिहव्व हं वंदे॥७॥

अर्थ- कवि तीर्थंकर, तर्क चक्रवर्ती, प्रथम जिनस्तुति रचयिता, वादी रूपी हाथियों के लिए सिंह के समान, भद्र, समंतभद्र आचार्य को मैं वंदन करता हूँ।

जिणिंद-बुद्धी णाणी, सु-पुज्जपादो य देवणंदी गुरू।
तिय-णामजुदं सूरिं, वंदे सव्वट्ठसिद्धि कत्तारं॥८॥

अर्थ- ज्ञानी जिनेन्द्र बुद्धि, सु-पूज्यचरण वाले पूज्यपाद तथा देवनंदी गुरू, इन तीन नाम संयुक्त सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ के कर्त्ता को मैं वंदन करता हूँ।

जोइंदुं, जडासिंहं, अकलंकं वीर-जिणसेणं।
सिरिभूवलयं च कदं, जेणं कुमुदेंदु तं वंदे॥९॥

अर्थ- योगेन्दु, जटासिंहनन्दि, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन तथा जिन्होंने 'सिरि भूवलय' को रचा उन कुमुदेंदु को वंदन करता हूँ।

वादिरायं च विज्जा-वीरणंदि णेमिचंद वसुणंदिं।
अमिदं च पहाचंदं, माणिक्कादिं सूरिणं वंदे॥१०॥

अर्थ- वादिराज, विद्यानंदी, वीरनंदी, नेमिचंद्र, वसुनन्दि, अमृतचंद्र, प्रभाचंद्र तथा माणिक्यनंदि आदि आचार्यों को वंदन करता हूँ।

आदीसायर सूरिं, सूरिं महावीरकित्तिं हं वंदे।
सम्मदिसागर सूरिं, तस्स य सिस्सो सुणील आइरियो॥११॥

अर्थ- आचार्य आदिसागर, आचार्य महावीर कीर्ति तथा आचार्य सन्मतिसागर जी को मैं उनका शिष्य आचार्य सुनीलसागर वंदन करता हूँ।

॥ वड्ढदु जिणसासणं॥

---- ० ----

दिगम्बर मुनि श्री सुनीलसागरजी द्वारा रचित प्रमुख साहित्य

क्रम	कृति का नाम	सम्पादन	प्रकाशन स्थल
१.	इष्टोपदेश (टीका)	मुनि श्री सुनीलसागरजी	टीकमगढ़
२.	विश्व का सूर्य (जीवनवृत्त)	पं. विमलकुमार सोंरया	टीकमगढ़
३.	पथिक (उपन्यास)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	वाराणसी
४.	कालजयी कविताएँ	मुनि श्री सुनीलसागरजी	वाराणसी
५.	मेरी सम्मेदशिखर यात्रा	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
६.	वसुनन्दि श्रावकाचार (पूर्वार्द्ध)	प्रो.भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	वाराणसी
७.	वसुनन्दि श्रावकाचार (उत्तरार्द्ध)	पं. विमलकुमार जैन सोंरया	टीकमगढ़
८.	दूसरा महावीर (जीवनवृत्त)	महेन्द्रकुमार बड़जात्या	जयपुर
९.	अहिंसावतार (काव्य संग्रह)	रमेशचन्द 'मनया'	भोपाल
१०.	जैनाचार विज्ञान (आलेख)	डॉ.अनुपम जैन डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
११.	काशी दर्शन (यात्रावृत्तांत)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	वाराणसी
१२.	मानवता के आठ सूत्र (निबंध)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
१३.	बिना पूंछ का बन्दर (कविताएं)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	वाराणसी
१४.	संक्षिप्त जैन इतिहास	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
१५.	यात्रा के संस्मरण	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
१६.	ब्रह्मचर्य विज्ञान (आलेख)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
१७.	धरती के देवता (वार्ता)	प्रो. सुदर्शन लाल जैन	वाराणसी
१८.	भावणासारो (प्राकृत)	प्रो. उदयचन्द जैन	ज्ञानपीठ,दिल्ली
१९.	णीदी संगहो (प्राकृत)	प्रो. उदयचन्द जैन	उदयपुर
२०.	धुदि संगहो (प्राकृत)	प्रो. उदयचन्द जैन	मुंबई
२१.	प्राकृत-बोध (प्राकृत)	प्रो. उदयचन्द्र जैन डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
२२	अज्झप्पसारो (प्राकृत)	प्रो. उदयचन्द्र जैन	इन्दौर
२३.	तत्त्वार्थसूत्र (व्याख्या)	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
२४.	अध्यात्मसार शतक	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर
२५.	सौ कविताएं	डॉ.जयकुमार जैन 'जलज'	इन्दौर
२६.	आत्मोदय शतक	डॉ.महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	इन्दौर